साधु दर्शन

एवम्

सत्प्रसंग

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज

7·7

साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग

[द्वितीय भाग]

मूल बँगला से अनूदित

लेखक

महामहोपाध्याय

पं० श्री गोपीनाथ कविराज

एम० ए०, डी० लिट्०, पद्मविभूषण

अनुवादिका

डॉ० कुमारी प्रेमलता शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
प्रथम संस्करण : १९७५ ई०
मूल्य : [redacted] रुपये

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी ।
मुद्रक : स्वस्तिक मुद्रणालय, गोलघर, वाराणसी ।

भूमिका

'साधुदर्शन तथा सत्प्रसंग' का द्वितीय भाग प्रथम भाग के प्रायः आठ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है। अनेक बाधा-विघ्नों के कारण यह विलम्ब हुआ है, यद्यपि अनुवाद कई वर्ष पहले ही प्रस्तुत हो चुका था।

जङ्गम तीर्थराज पूज्यपाद कविराजजी की समर्थ लेखनी से उद्भूत ये संस्मरण अध्यात्म-पथ के जिज्ञासुओं के लिए अमूल्य हैं। प्रथम भाग में उनकी स्वलिखित भूमिका में से इन संस्मरणों की प्ररोचना के निमित्त कुछ अंशों का उद्धरण यहाँ सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

"अध्यात्म जीवन की आकांक्षा के प्रथम उन्मेष से ही 'साधुदर्शन और सत्प्रसंग' के लिए हृदय में एक प्रबल पिपासा जाग उठी थी। प्राच्य और पाश्चात्य देशों के विभिन्न युगों के और विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों और भक्तों के जीवन-चरित का तब मैं आग्रह-सहित अध्ययन करता था। सन्तों के धर्मगत, धारागत, साधन-प्रणालीगत और सामाजिक स्थितिगत—समस्त बाह्य भेदों की उपेक्षा करके, आत्मा व भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में केवल परोक्ष ज्ञान नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव-लाभ करना जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रहा है, ऐसे महाजनों की चरित-कथा सुनना व पढ़ना अच्छा लगता था और ऐसे महाजनों के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य मिलने पर मैं अपने को धन्य समझता था।"

"तत्त्वरूपी भगवान् तो एक और अखण्ड है, फिर भी मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार खण्डभाव से उनकी धारणा करने का यत्न करते हैं। यह स्वाभाविक है। इसीलिए उनकी ओर अग्रसर होने के पन्थ भी जगत् में इतने विचित्र हैं। केवल विचित्र नहीं—कभी-कभी विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। किन्तु विरुद्ध प्रतीत होने पर भी वे वस्तुतः विरुद्ध नहीं हैं।"……

"इसीलिए उसके पथ में उसे लक्ष्य बनाकर चलनशील पथिक-मात्र ही हमारे प्रणम्य हैं। सभी के चरित और उपदेश अधिकार के अनुसार हमारा कल्याण-साधन करते हैं। वस्तुतः अक्षुब्धचित्त साधक के लिए सभी श्रीगुरु की ही मूर्ति-

विशेष हैं। व्यक्तिगत भाव से मैं अपने जीवन में बहुत प्रकार से अपने को उन लोगों के निकट ऋणी समझता हूँ।"……

"जिन महात्माओं की कथा इस ग्रन्थ में सन्निविष्ट हुई हैं, उनके विवरण मैंने कुछ वर्ष पूर्व 'हिमाद्रि' पत्रिका में प्रकाशित किये थे। बन्धुवर्ग के अत्यन्त अनुरोध से वे प्रबन्ध 'साधुदर्शन और सत्प्रसंग' शीर्षक से ग्रन्थाकार में बंगला में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में 'हिमाद्रि' में प्रकाशित पाँच कथाओं का सन्निवेश हुआ है। उसमें प्रकाशित बाकी कथाएँ द्वितीय भाग में निकल चुकी हैं।* कथा और भी बहुत-सी हैं, किन्तु वे अभी 'हिमाद्रि' में प्रकाशित नहीं हुई हैं।"……

"जिन महाजनों के उपदेश का संकलन किया है, उनके बाह्य जीवन और तत्संक्रान्त घटनाओं की चर्चा मैंने नहीं की है। उनकी बाह्य प्रतिष्ठा और शास्त्र-ज्ञानादि की मात्रा के सम्बन्ध में भी मुझे कोई औत्सुक्य नहीं था, इसलिए उन सबकी चर्चा भी मैंने नहीं की है। पूर्ण सत्य की व्यापक और गम्भीर अनुभूति में से जिसके पास से जितना-सा अपनी धारणा-शक्ति के अनुसार मैं ग्रहण कर सका, उतना ही लिपिबद्ध किया है। यह अनुलेखन दीर्घकाल के बाद अस्पष्ट स्मृति पर निर्भर करके नहीं किया गया है। जिस दिन जिस विषय की चर्चा होती थी, साधारणतः उसी दिन रात्रि के समय उसका सारांश संकलित करके मैं रख लेता था। उसी के आधार पर यथासम्भव संक्षेप में ये विवरण रचित हुए हैं। यह सत्य है कि मैंने किसी उपदेश को प्रचलित सिद्धान्तानुगत बनाकर सजाने का यत्न नहीं किया है। एवं उनकी व्यवहृत परिभाषा को यथासम्भव यथाश्रुत रखने का ही यत्न किया है।"

"साधक के जीवन में इन सब अनुभवमूलक उपदेशों व तत्त्व-कथाओं का काफ़ी मूल्य है, यह सोचकर इन सब 'लेखों' को सुदीर्घ काल तक बड़े यत्न से

---

* द्वितीय खण्ड के प्रस्तुत अनुवाद में मूल की अपेक्षा दो परिवर्तन हुए हैं। एक तो यह कि मूल में सात कथाओं के बाद तीन लेख भी हैं, जिन्हें अनुवाद में छोड़ दिया गया है, क्योंकि वे अन्यत्र (भारतीय साधना एवं संस्कृति) प्रकाशित हो चुके हैं। दूसरे यह कि कालीनाथ बाबा की कथा इस अनुवाद में पूज्यपाद ग्रन्थकार के आदेशानुसार अतिरिक्त रूप से जोड़ी गयी है। —अनुवादिका

सँभालकर रखता रहा हूँ। शास्त्र के साथ इन सब वचनों को मिलाने का मैंने यत्न नहीं किया है। श्रोता के अधिकार-भेद से उपदेष्टा पुरुष का भी उपदेश-दान भिन्न होता है। जिस स्थिति में मानवीय भाषा द्वारा, यहाँ तक कि दिव्यभाषा द्वारा भी वर्णन नहीं हो सकता, वह स्थिति पृथक् है और जहाँ वर्णन हो सकता है, वहाँ विकल्प का आश्रय लेकर ही निर्विकल्प तत्त्व को समझाने का यत्न करना होता है। मनोभूमि की विचित्रता के कारण विकल्प की विचित्रता स्वाभाविक है।"

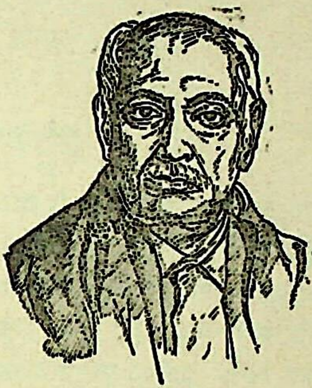
परम श्रद्धेय ग्रन्थकार की व्यापक दृष्टि का परिचय ऊपर की पंक्तियों से पाठकों को अवश्य मिला होगा। उनकी विशालता, समग्रता जिज्ञासु पाठकों में भी संक्रान्त हो, ऐसी प्रभु से प्रार्थना है।

प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन की व्यवस्था 'विश्वविद्यालय प्रकाशन' के सञ्चालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी न करते तो पता नहीं और भी कितने दिन तक यह अप्रकाशित पड़ा रहता। वे हम सबके धन्यवाद के पात्र हैं। भ्रम प्रमाद के कारण जो भी अशुद्धियाँ रह गयी हों उनके लिए सुधी पाठकों से क्षमायाचना करते हुए यह निवेदन पूर्ण करती हूँ।

विजया दशमी,
१४ अक्टूबर,
१९७५।

प्रेमलता शर्मा
अध्यक्षा,
संगीतशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

अनुक्रम



पद्मविभूषण
पं० श्री गोपीनाथ कविराज

साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग
२

१

किशोरी भगवान्

किशोरी भगवान् का नाम आज काशी में सम्भवतः बहुतों के लिए अपरिज्ञात है, किन्तु एक समय ऐसा था जब केवल काशी में ही नहीं, बाहर भी अनेक स्थानों पर, अनेक परिवारों में, इनके नाम व गुण की चर्चा चलती थी। देश-विदेश से बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष अनेक लोग इनका दर्शन करने के लिए आते थे, अनेक इनका अनुग्रह पाकर स्वयं को धन्य मानते एवं ऐसा समझते कि जीवन-पथ पर अग्रसर होने के लिए साहाय्य मिला है।

यह सम्भवतः १९२० ई० की बात है। मैं एक दिन प्रयाग विश्वविद्यालय के किसी अधिवेशन में उपस्थित होकर प्रयाग से काशी लौट रहा था। मुगलसराय स्टेशन पर एक पूर्व-परिचित बङ्गाली मित्र दिखायी दिये। वे काशी प्रयाग जा रहे थे। हम दानों का ही अपनी-अपनी गाड़ी पकड़ने में कुछ देर थी इसलिए विश्राम-गृह में बैठकर बातचीत करते रहे। मैंने मित्र से पूछा कि इस असमय में वे प्रयाग से काशी क्यों आये थे? इस समय विद्यालय में अवकाश तो था नहीं, इसीलिए यह प्रश्न स्वभावतः ही मन में उदित हुआ था। उन्होंने कहा, काशी में एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ है, उनको लोग भगवान् के अवतार के समान श्रद्धा करते हैं। उनके विषय में अनुसन्धानपूर्वक औत्सुक्य की निवृत्ति के लिए एक दिन के लिए वे (मित्र) काशी आये थे, किन्तु विशेष अनुसन्धान का अवसर न रहने से वे ठीक-ठीक संवाद नहीं ले पाये। वे उन महात्मा का नाम-धाम कुछ भी नहीं बता पाये। यह प्रसङ्ग यहीं समाप्त हो गया।

किन्तु बात मेरे मन में बनी रही। मैंने सोचा कि मैं काशी में रहते हुए भी यह समाचार नहीं जान सका, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। इसीलिए इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ अनुसन्धान करने की चेष्टा करने लगा। किन्तु नाम अथवा स्थान ज्ञात न होने से ठीक खोज नहीं कर पाया। इसी बीच एक दिन मैं गङ्गा तीरपर दरभङ्गा घाट के बुर्ज पर बैठकर दो-एक साथियों के साथ बातचीत कर रहा था। थोड़े समय के पश्चात् कुछ सुनने में आया, दो सज्जन इस बुर्ज के पास ही दूसरी जगह बैठकर परस्पर एक विषय पर आलोचना कर रहे हैं। उनकी आलोचना का विषय मेरी खोज के विषय से पृथक् नहीं जान पड़ा। क्योंकि वे कह रहे थे कि, काशी में किसी स्थान पर किसी आधार में भगवत्शक्ति का आविर्भाव हुआ है और उसका सन्धान इन लोगों को कुछ-कुछ मिला है। इस प्रसङ्ग में सोनारपुरा मुहल्ला में अवस्थित 'प्रणव आश्रम' की बात उन लोगों ने की। वस्तुतः उन महापुरुष के नाम व अवस्थान के सम्बन्ध में वे भी कुछ नहीं जानते थे। इस 'प्रणव आश्रम' को मैं भली प्रकार जानता था। स्वर्गीय योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के शिष्य स्व० प्रणवानन्द स्वामी महाराज इस आश्रम के अधिष्ठाता थे। इसे किसी भक्त ने बनवाकर उनके नाम कर दिया था। मैं कुछ वर्ष पूर्व पूर्वोक्त स्वामीजी के देहावसान के समय, उनके द्वारा रचित गीता की यौगिक व्याख्या का संग्रह करने के लिए एक बार उनके आश्रम में गया था। अब मैंने मन-ही-मन विचार किया कि इस आश्रम में जाकर पूर्वोक्त महापुरुष की खोज करने की चेष्टा करूँगा।

इसी प्रकार कुछ दिन कट गये। एक दिन मैं एक मित्र के साथ प्रणवाश्रम गया। वहाँ जाते ही एक वृद्धा स्त्री हमसे मिलने आयीं और हमारे इस आश्रम में आने का उद्देश्य जानना चाहा। उन्होंने पूछा कि मैं यहाँ पर किसी से मिलने का इच्छुक हूँ या नहीं? मैंने उन वृद्धा महिला से कहा कि मैं अवश्य ही किसी व्यक्ति का दर्शन करने के लिए आया हूँ, किन्तु वे कौन हैं, यह मैं नहीं जानता। उनका नाम भी नहीं जानता और स्थान भी नहीं जानता। सुना है, काशी में ही कहीं उनका आविर्भाव

हुआ है। यह कहाँ तक सत्य है, यह भी नहीं जानता। इतना सुना है कि इस आविर्भाव के साथ स्वामी प्रणवानन्दजी का कुछ सम्बन्ध है। इस तथ्य का अनुसन्धान करके निर्णय करने के लिए ही यहाँ आया हूँ। इससे अधिक और मुझे कुछ नहीं कहना है। बात सुनकर वृद्धा ने कहा, 'समझ गयी', आपलोग 'भगवान्' से मिलना चाहते हैं। यह कहकर उन्होंने साग्रह एक व्यक्ति को कहा कि हमें लेकर 'भगवान्' के निवास स्थान तक पहुँचा दे और उनसे हमारा साक्षात्कार हो सके ऐसी व्यवस्था कर दे। इसके पश्चात् वह व्यक्ति हमें साथ लेकर प्रणवाश्रम से बाहर निकला और थोड़े से घर लाँघकर एक घर में प्रवेश करके उसने हमें इस घर की बैठक में बैठने को कहा। इसके पश्चात् उसने ऊपर की मंजिल में जाकर उन महापुरुष को खबर दी और कुछ समय पश्चात् प्रणवाश्रम लौट गया।

जिस घर में 'भगवान्' थे वह अपेक्षाकृत छोटा था। इसकी बैठक में हमारे कुछ समय प्रतीक्षा करने पर एक वृद्ध दूसरी मंजिल से उतरकर आये और हमारे निकट आकर उन्होंने सादर अभ्यर्थना की। ये सज्जन आयु में पचास से कुछ ऊपर प्रतीत हुए। श्यामवर्ण था, अच्छी सुन्दर आकृति थी। सिर पर सामान्य केश थे—मुण्डित भी नहीं, बहुत लम्बे भी नहीं, मूँछ या दाढ़ी कुछ नहीं। हास्यमय प्रसन्न मूर्ति थी एवं प्रकृति भी सरल, उदार व अमायिक थी। इन्हें देखकर मन आनन्दित हुआ और उनके साथ पहले का परिचय न रहने पर भी उनके प्रति एक श्रद्धा का उदय हुआ। बातचीत में देखा कि वे उच्चशिक्षा-प्राप्त, संस्कृत व अंग्रेजी में विशेष अधिकार-सम्पन्न एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी असाधारण मेधा व धी-शक्ति-सम्पन्न हैं। उन्होंने हँसकर पूछा, "आपलोग किससे मिलने आये हैं?" इस प्रश्न का क्या उत्तर दें, समझ नहीं पाया। कहा, "हम किससे मिलने आये हैं यह नहीं जानते। सुना है कि काशी में भगवान् प्रकट हुए हैं और प्रणव आश्रम के साथ इस बात का कुछ सम्बन्ध है। प्रणवाश्रम गये थे, वहाँ से उन लोगों ने आप के समीप भेज दिया है, आप ही क्या 'भगवान्' हैं?"

हमारी बात सुनकर उन्होंने हँसते-हँसते कहा—"वे मुझे 'भगवान्' नाम से कहते हैं।"

इसके पश्चात् मैंने उनसे पूछा कि इस जन-रव के मूल में कोई सत्य है या नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, "इसका मूल अवश्य ही सत्य है, हाँ अज्ञ लोग जो समझते हैं, वह सत्य नहीं है। साधारण लोगों की धारणा है कि भगवान् का दर्शन नहीं होता। यहाँ तक कि अत्यन्त कठोर तपस्या के बिना हृदय में उनका जरा-सा संकेत भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त भगवान् का दर्शन करने के लिए मन-प्राण को निरुद्ध करके नित्य व चिन्मय जगत् में प्रवेश करना होता है। स्वयं अनित्य के बीच रहकर, विशेषतः वर्तमान समय में—भगवान् का दर्शन पाने की आकांक्षा कवि-कल्पनामात्र है। किन्तु यह सत्य नहीं, यह शास्त्र का सिद्धान्त भी नहीं है। कलियुग के प्रभाव से जीव का चित्त मलिनतावश अधिक दुर्बल होने से भगवान् का जीव के प्रति अनुग्रह होने की सम्भावना इसी समय अधिक है। द्वापर, त्रेता व सत्ययुगों में क्रमश जीव में साधन-बल अधिक परिमाण में रहता था। इसीलिए भगवान् की किंचित् करुणा पाकर ही जीव संसार-मुक्ति का पथ खोज लेता था। किन्तु अब जीव में वह तपोबल नहीं है, ब्रह्मचर्यजनित वैसी शुद्धि भी नहीं है, यहाँ तक कि ज्ञान अथवा शक्ति के विकास की वैसी सामर्थ्य भी नहीं है। इसीलिए कलियुग में भगवत्कृपा का प्राधान्य अधिक है। सरलता, विश्वास एवं एकनिष्ठता रहने से अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग में ही भगवद्-दर्शन सुलभ है।"

मैंने पूछा, "योग एवं ज्ञान में उत्कर्ष न पाने से, यहाँ तक कि यथोक्त प्रकार से चित्तशुद्धि भी न होने से, जीव को भगवान् का दर्शन कैसे हो सकता है?"

'भगवान्' ने कहा—"यह सत्य बात है। किन्तु योग, ज्ञान आदि उच्च अङ्गों की साधन-सम्पत्ति सद्गुरु को प्राप्त करके यथाविधि अर्जित न कर पाने से दर्शन नहीं मिलता। इसी कारण जीव के कातर होकर पुकारने पर भगवान् अपने गुण से कृपापूर्वक उसके नयन-पथ में उपस्थित

होते हैं, एवं गुरुरूप में भक्त के सम्मुख आत्मप्रकाश करते हैं। उसके पश्चात् इस गुरुरूप से ही उसे बाहर से उपदेश देते हैं और भीतर से क्रमशः उसका शोधन करते हैं एवं उसकी सब ग्रन्थियाँ मुक्त करते हैं। जीव स्थूल अभिमान में निविष्ट है, इसीलिए भगवान् भी उसके पास पहले स्थूल रूप से ही प्रकाशित होते हैं तथा प्रकाशित होकर उसे उसके लिए उपयोगी उपदेशादि देते हैं। जीव के ज्ञानादि की वृद्धि के साथ-साथ भगवान् का आविर्भाव भी क्रमशः निम्न से उच्च स्तरों में हुआ करता है। समय आने पर अद्वैतज्ञान का उदय होने पर गुरुरूपी भगवान् एवं शिष्यरूपी जीव एक व अभिन्नसत्ता में स्थिति-लाभ करते हैं।"

उनकी बात सुनकर मैंने कहा—"आपने जो कहा वह युक्तिसङ्गत है। किन्तु स्थूलाभिमान रहते, स्थूल दृष्टि के सम्मुख उपदेष्टा रूप में भगवान् का आविर्भाव क्या सरल बात है?"

भगवान् हँसकर बोले, "यही तो सरल व स्वाभाविक मार्ग है। मनुष्य विश्वास नहीं कर पाता इसीलिए दर्शन नहीं पाता। किन्तु यदि एक बार चित्त में दृढ़ विश्वास हो जाय तो फिर स्थूल रूप से भगवान् के दर्शन को दुर्लभ समझने का कोई कारण नहीं है। ब्रह्मज्ञान, अद्वैत-ज्ञान—ये सब बहुत बड़ी बातें हैं। किन्तु स्थूल रूप से भगवान् के दर्शन, भाग्य में हो तो, प्रत्येक जीव को ही पाना उचित है। इसके अतिरिक्त और भी एक बात है। अब जो समय आया है वह भगवान् के प्रकट होने के अनुकूल है। जीव नाना प्रकार से पीड़ित होकर एवं नाना तापों से तापित होकर अनाथ तथा निराश्रित रूप से चारों ओर हाहाकार कर रहा है। भगवत्कृपा की अभिव्यक्ति का यही तो अनुकूल समय है। वस्तुतः अन्य समय में जो अत्यन्त दुर्लभ है, काल के प्रभाव से वर्तमान समय में वह अत्यन्त सुलभ है। हाँ, आन्तरिकता, सरलता, वैराग्य व व्याकुलता होनी चाहिए। अन्यान्य सद्गुण न रहने पर भी इस प्रकार के भगवद्दर्शन में बाधा नहीं होती। अवश्य ही, चित्त की उन्मुखता रहना आवश्यक है। आलोक आने पर जैसे अन्धकार दूर होता है, उसी

प्रकार भगवान् के प्रकट होने पर हृदय की मलिनता व अन्धकार दूर हो जाता है।"

मैंने पूछा, "ऐसी ही घटना क्या कोई हुई है, जिससे आपका युक्ति-पूर्ण वचन दृष्टान्त द्वारा समर्थित हो सकता हो?"

उन्होंने कहा, "अनेक हुई हैं एवं नित्य ही अनेक घट रही हैं। आप लोग खोज करके इसे जान पायेंगे।"

तब मैंने पूछा, "आपने जो कहा, तत्त्व को दृष्टि से तो सर्वथा सत्य है, किन्तु मैं वर्तमानकाल में इस भगवल्लीला-व्यापार का ऐतिहासिक क्रम-विकास जानना चाहता हूँ। इस व्यापार की सूचना किस प्रकार हुई, यही जानने की इच्छा है।" मेरी यह बात सुनकर 'भगवान्' शान्तभाव से, इस लीला की प्रथम सूचना कैसे होती है, यह बताने लगे।

उन्होंने कहा—"आपने योगी प्रणवानन्द स्वामी का नाम अवश्य ही सुना होगा। वे काशी के प्रसिद्ध योगी 'श्यामाचरण लाहिड़ी' महाशय के शिष्य थे। जिस आश्रम में आपलोग गये थे, वह उन्हीं का आश्रम है। उनके एक शिष्य ने उसे बनवाकर उनके नाम समर्पित किया है। स्वामी-जी ने कुछ दिन पहले ही काशी के बाहर शरीर त्याग दिया है। अन्यान्य स्थानों की भाँति काशी में भी उनके अनेक शिष्य थे। वे सभी गुरुदेव के तिरोहित होने की बात सुनकर विशेष मर्माहत हुए। वे सब प्रतिदिन आश्रम में एकत्र होकर परस्पर धर्मालोचना करते एवं बीच-बीच में सद्ग्रन्थों का पाठ करते; आश्रम में जिस वेदी पर स्वामीजी उपविष्ट होते थे उसी के चारों ओर की नीचे की जमीन पर शिष्यगण बैठकर धर्म के विषय में विचार-आलोचना करते थे। किन्तु ऐसी आलोचना में उनके प्राणों की अकथ्य वेदना दूर न होती।"

इसी समय उनके परिचित एक सज्जन उनके आश्रम में किसी कार्य के उपलक्ष्य से आये। वे वर्तमान पुलिस-विभाग के एक उच्चपदस्थ कर्मचारी थे। इनके साथ बहुत दिनों से मेरा परिचय था। इन सज्जन ने उन लोगों की वेदनापूर्ण मन की अवस्था देखकर उनके प्रति अत्यन्त सहानुभूति दिखायी।

उन्होंने इन लोगों को मेरा नाम बताकर मुझसे मिलने को कहा। उन्होंने कहा था कि कुछ दिन मेरे साथ धर्मालोचना कर पाने से शायद उनके मन में शान्ति उदित होगी। उनका उपदेश पाकर ये सब भक्त-गण दो-एक दिन बाद ही मुझसे मिलने आये। उनके साथ बातचीत करके देखा कि वे अत्यन्त शोकार्त्त हैं। उनके विशेष अनुरोध पर मैं अपराह्न काल में चार बजे प्रणव आश्रम में जाकर एक घण्टा उन लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए राजी हो गया। उनका दुःख देखकर मेरे मन में अत्यन्त समवेदना उत्पन्न हुई थी। इसके दूसरे दिन से ही मैं प्रतिदिन प्रणवाश्रम जाकर एक घण्टा बैठता और उनके जिज्ञासित प्रश्नों का सदुत्तर देकर उनका शोक दूर करने की चेष्टा करता।

मुझे पाकर भक्तों में जो प्रधान थे, अर्थात् जिन्होंने आश्रम बनवाकर दान किया था, उन्होंने मुझसे पूछा—"हमारे गुरुदेव की मृत्यु हो गयी है। हम अत्यन्त शोक-कातर हैं। इसके अतिरिक्त साधन-पथ में उपदेष्टा के अभाव में बहुत बार नाना प्रकार की समस्याओं की मीमांसा नहीं कर पा रहे हैं। आप यदि दया करके हमारी साधना-पथ पर कुछ-कुछ सहायता करें तो हम अत्यन्त उपकृत होंगे।" मैंने कहा, "तुम लोगों की बात सुनकर आश्चर्य हुआ। तुम कह रहे हो कि गुरु की मृत्यु हो गयी है। वास्तव में गुरु की क्या कभी भी मृत्यु होती है? तुम अभी तक पहचान नहीं पाये हो कि गुरु किसे कहते हैं? यदि पहचान पाते तो ऐसा नहीं कहते। एक बार गुरु की प्राप्ति होने पर कभी भी उससे सम्बन्ध टूटता नहीं। जो मृत्यु से उद्धार करेंगे, उन्हीं की यदि मृत्यु हो जाय तो उनकी सार्थकता क्या रही? सत्य बात कहने में क्या है, तुमलोगों को अभी गुरु मिले ही नहीं। तुमने मनुष्य को ही गुरु समझा है, इसीलिए तुम्हें इतना कष्ट है। गुरु, गुरु ही होता है—गुरु नित्य है। मनुष्य कभी गुरु नहीं हो सकता।"

'गुरु, गुरु ही है—गुरु नित्य है। मनुष्य कभी गुरु नहीं हो सकता' यह कहने पर भक्तों ने प्रश्न किया कि ऐसी स्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है?

मैं—"तुमलोगों का प्रधान एवं प्रथम कर्तव्य है गुरु को प्राप्त करना। इसके पश्चात् क्या करना होगा यह गुरु ही बता देंगे—मुझे नहीं बताना पड़ेगा।"

प्रधान भक्त—"यह तो बड़ी कठिन बात है, अब फिर गुरु कहाँ से पायेंगे ?"

मैं—"गुरु को खोजना नहीं पड़ता। शिष्य होना सम्भव हो तो गुरु घर बैठे ही मिल जाता है। तुमलोगों में से कोई अभी शिष्य हो नहीं बन सका है। शिष्य हो सकने पर फिर गुरु को पाने में कोई विलम्ब नहीं सहना पड़ता। तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य अपने में शिष्योचित गुणों का विकास करना है। इधर-उधर गुरु की खोज न करके स्वयं शिष्य बनने की चेष्टा करो।"

प्रधान भक्त—"शिष्य कैसे बना जाता है यह तो जानते नहीं। शिष्य के लक्षण क्या हैं ?"

मैं—"शिष्य का प्रधान लक्षण यह है कि—अविचलित भाव से, पूर्ण विश्वास के साथ अर्थात् संशयशून्य होकर गुरु की आज्ञा का पालन करने की चेष्टा करना।"

प्रधान भक्त—"हमने क्या इतने समय अब तक गुरु-आज्ञा-पालन नहीं किया ?"

मैं—"गुरु-आज्ञा का पालन तो अवश्य किया है, किन्तु वह विचार-पूर्वक किया है। बिना कोई विचार किये गुरु-आज्ञा का पालन करने की शक्ति अभी भी तुममें नहीं आयी है। मान लो, गुरु तुम्हें तिमंजिले या चार मंजिले मकान की छत पर से नीचे कूद पड़ने को कहे और नीचे प्रज्वलित अग्निकुण्ड हो, तब क्या तुम बिना विचार किये जरा भी इधर-उधर हुए बिना, द्विविधा में पड़े बिना, आज्ञा पाते ही कूद सकोगे ?"

प्रधान भक्त—"नहीं, यह तो नहीं कर सकेंगे। किन्तु, गुरु ऐसी बात ही क्यों कहेंगे ? जो करना हमारे लिए असम्भव है, वैसा आदेश वे देंगे ही क्यों ?"

मैं—वे क्यों देंगे, यह प्रश्न करने का तुम्हारा अधिकार नहीं है। उनका आदेश न्यायसङ्गत है या नहीं, इसका विचार करना तुम्हारे अधिकार में नहीं है। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य आदेश-पालन करना है,

या जहाँ तक हो सके वहाँ तक पालन करने की चेष्टा करना है। इससे प्रतीत हो रहा है कि तुमलोग आदेश-पालन में अयोग्य हो। इसीलिए तुममें वास्तविक शिष्य होने का अधिकार नहीं है। इसीलिए अब तक तुमने गुरु नहीं पाया। जो वास्तविक शिष्य होगा वह गुरु की आज्ञा पर विचार करके उसका पालन करने की चेष्टा नहीं करेगा। गुरु में गुरुत्व-बोध न हो तो ही अपनी युक्ति व विचार का अवलम्बन करके कार्यक्षेत्र में चलना होता है। ठीक-ठीक गुरुबोध हो तो आदेश-पालन में द्विधा नहीं आती। यदि किसी बाधा-विपत्ति की सम्भावना हो तो वहाँ गुरु ही रक्षा कर लेते हैं।"

मेरी यह बात सुनकर वहाँ की सारी भक्त-मण्डली म्रियमाण-सी हो गयी। जिनको इस मण्डली में से प्रधान कहा है, वे बोले—"तब तो हमारे लिए गुरु-प्राप्ति की कोई आशा ही नहीं है। किसी दिन ऐसा शिष्य हो पाऊँगा ऐसी आशा भी नहीं होती। किन्तु प्राणों की एकान्त आकाङ्क्षा है, सद्गुरु के पद-प्रान्त में बैठकर शिक्षालाभ करूँगा एवं योग्यता-अर्जन करूँगा।"

मैंने कहा—"देखो गुरु सर्वज्ञ हैं। तुम्हारा आधार कितना-सा है एवं सामर्थ्य कितनी मात्रा की है, इसे वे जानते हैं। वास्तव में उनकी क्रृपा के बिना प्रकृत शिष्यभाव भी कोई नहीं पा सकता। किन्तु तुममें यदि आन्तरिकता रहे, एवं गुरु-आज्ञा-पालन के लिए आन्तरिक आकाङ्क्षा रहे तब वे प्रसन्न होकर तुम्हें दर्शन दे सकते हैं। इसके पश्चात् उनके सद्गुण व शिक्षा के प्रभाव से तुम्हारा शिष्योचित गुण, वृद्धि पायेगा। तब उनके साथ तुम्हारा आत्मिक योग संस्थापित होगा। इसके पश्चात् ऐसी एक अवस्था का उदय होगा जहाँ गुरु-शिष्य का भेद लुप्त हो जायेगा व एक अद्भुत शान्ति विराजित होगी।"

"इसके पश्चात् और भी अनेक विषयों पर बातचीत हुई। मैं प्रतिदिन ही वहाँ जाता और वे भी मेरा उपदेश ग्रहण करते। क्रमशः मैंने अनुभव किया कि उनमें से किसी-किसी का चित्त गुरु-प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठा।"

तब मैंने वहाँ उपस्थित कुछ भक्तों में से दो-तीन जनों को उपदेश दिया। उपदेश और कुछ नहीं, क्या नाम करें, किस प्रकार ध्यान करें, इस विषय में कुछ बतला दिया। मैंने उन्हें समझाकर कहा कि आसन पर बैठने के समय पूजा-घर का द्वार बन्द करके बैठें, जिससे कि साधना के समय और कोई व्यक्ति कक्ष में प्रवेश न कर पाये। इस साधना के लिए रात्रि का समय उपयुक्त है, यह भी समझा दिया। साधना के समय आसन कभी न छोड़ें, यहाँ तक कि किसी विशेष कारण से भय का सञ्चार होने पर भी आसन छोड़कर न उठें, इस विषय में सबको सतर्क कर दिया। सरलता, ऐकान्तिकता, निष्ठा एवं गाढ़ विश्वास—ये सब सद्‌गुण अत्यन्त उपयोगी हैं। इस कारण प्रत्येक को समझा दिया कि मनुष्य अपने प्रियजन का दर्शन करने के लिए जैसे तीव्र उत्कण्ठा के साथ पथ की ओर देखता रहता है, ठीक उसी प्रकार आवेग व उत्कण्ठा के साथ उनके आगमन के लिए प्रतीक्षा का भाव हृदय में पुष्ट करना होगा।

इसके पश्चात् वे सभी नये उत्साह व उद्यम से साधना में प्रवृत्त हुए और तीन-चार मास बीतने पर इन सब भक्तों में से जो प्रधान थे, उनके जीवन में एक अद्‌भुत-परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। क्रमशः उन्हें भगवान् का दर्शन मिलना आरम्भ हुआ और इस दर्शन की अवस्था के पश्चात् आविर्भूत स्वरूप के साथ उनका आन्तरिक सम्बन्ध क्रमशः गम्भीर होने लगा। आविर्भूत स्वरूप से वे नाना प्रकार के उपदेश पाते तथा केवल आध्यात्मिक विषय में नहीं, सांसारिक विषय में भी अनेक मूल्यवान् ज्ञान की बातें उनके पास से प्रयोजन के अनुसार प्राप्त होतीं। बहुत समय पश्चात् उस आविर्भूत भगवान् की कृपा से इन्हें विश्वरूप-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी आविर्भूत पुरुष से नाना प्रकार के ज्ञान का उपदेश पाते एवं योगक्रिया के सम्बन्ध में भी सहायता पाते। ऐसा जब भी जो कुछ होता वे मुझे आकर बताते और सभी प्रकार से मेरे आदेश के अनुसार चलने की चेष्टा करते।

"एक भक्त के जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन देखकर क्रमशः बहुतों में साधन-विषयक उत्साह व आन्तरिकता बढ़ने लगी। इसके फलस्वरूप

उनमें से किसी-किसी का अल्पाधिक विकास भी आरम्भ हुआ। यह भाव क्रमश: चारों ओर सञ्चारित होने लगा। उसके फलस्वरूप बहुत लोग साधन-पथ पर आकर उपस्थित हुए। अन्त में इस भाव का इतना अधिक विस्तार होने लगा कि जिन्होंने मुझे कभी भी देखा तक नहीं, ऐसे भी बहुत से लोग अपने स्थान पर ही विश्वास के बल पर यह साधन पाने लगे एवं आविर्भूत भगवत्स्वरूप के मुख से मेरा नाम-धाम जानकर मुझसे मिलने आने लगे।"

"यह भगवान् की लीला है। भगवान् की इच्छा से ही यह आरब्धि हुई है और जब तक उनकी इच्छा होगी—यह चलती रहेगी। इस प्रकार की साधना कोई नयी नहीं है—यह वैदिकयुग से ही चलती आ रही है और शास्त्र-निर्दिष्ट भगवत्साधना का प्रकार यही है। वस्तुत: यह भक्ति-साधन कर्म व ज्ञान से ही स्फुट होता है। उसके लिए कोई पृथक् साधन नहीं करना पड़ता।"

इस प्रकार 'भगवान्' के साथ प्राय: दो घण्टे वार्तालाप करके हम लोग घर लौटे। इसके पश्चात् एक दिन प्रणवाश्रम जाकर साधक व साधिकाओं से मिले एवं उनके अपने मुख से उनकी अनुभूति समझने की चेष्टा की। इससे समझ में आया कि यहाँ उपस्थित भक्तों में से बहुत से अनजान में भगवान् का दर्शन पाते हैं तथा किसी-किसी की विभिन्न प्रकार की लीला भी उनके साथ होती है। जिस प्रधान भक्त की बात पहले कही गयी है, उन्होंने अपनी अनुभूति का विश्लेषण करके हमें समझाने की चेष्टा की। इन्होंने प्रथम दिन गोपाल मूर्ति में दर्शन पाया है। मध्यरात्रि में गृहद्वार, की भीतर से अर्गला-बन्द थी। कक्ष में किसी प्रकार का प्रकाश नहीं था। किसी दिशा में भी किसी प्रकार का स्पन्दन-शब्द भी नहीं था। तब इनको आसन पर बैठे-बैठे ही अनुभव हुआ, जैसे एक क्षुद्रकाय शिशु उनकी गोद में बैठा है। उन्होंने गुरु के आदेशानुसार चक्षु खोलने की चेष्टा नहीं की, किन्तु नेत्र खुले न रहने पर भी वे शिशु का लावण्यमय रूप अन्तर्दृष्टि द्वारा हृदय में संपूर्णभाव से देख पाये थे। क्रमश: ध्यान गाढ़ होने से चक्षु का निमीलित रखना आवश्यक नहीं होता। प्रथम दिन शिशु के दर्शन

पाकर एवं उसका अंगस्पर्श-लाभ करके अल्प समय के बीच ही उनकी गाढ़ ध्यान की अवस्था आविर्भूत हुई। इस गाढ़ ध्यान में ही उस दिन समस्त रात कट गयी। प्रातःकाल समाधि से व्युत्थित होकर, वे पूर्व रात्रि की घटना स्मरण होने से उसे सत्य रूप में विश्वास नहीं कर पाये। उन्होंने उसे मनःकल्पित दर्शन ही समझा। इसीलिए दूसरे दिन सन्देह मिटाने के लिए उन्होंने आश्रम में लगी पुष्पवाटिका से पुष्पचयन करके उन सब पुष्पों द्वारा नाना प्रकार के आभरण की रचना की। फूल का मुकुट, फूल का हार, फूल का नूपुर, अङ्गुरीयक, फूल का मणिबन्ध, फूल के बुन्दे इस प्रकार के फूल के गहने अपने हाथ से बनाकर अत्यन्त यत्न के साथ उनकी रक्षा की। बाद की रात, इन्हें पूजागृह में रखकर यथासमय वे अपने आसन पर बैठ गये। इस दिन पहले की तरह ध्यानावस्था में एक शिशु का आविर्भाव हुआ। उन्होंने उसे गोपाल की मूर्ति समझकर ले लिया। तब पूर्वरचित फूल के अलङ्कारों को उन्होंने उस गोपाल की मूर्ति पर अर्पण किया अर्थात् उन सब अलङ्कारों से गोपाल की मूर्ति को सजा दिया। गोपाल, पुष्प-सज्जा से सज्जित होकर आनन्द से नृत्य करने लगा एवं भक्त के चित्त को एकाग्र करने के लिए प्राकृत शिशु की भाँति उनके क्रोड़ में जाकर बैठ गया। कुछ क्षण इस शिशुमूर्ति को क्रोड़ में रखने के फलस्वरूप भक्त के चित्त में ध्यानावस्था का भाव उदय हुआ, यहाँ तक कि समाधि-अवस्था का आभास जाग उठा। इस समाधि-अवस्था में समस्त रात कट गयी। पूर्व दिन की भाँति प्रातःकाल समाधि से जागरण हुआ। तब पूर्व रात्रि की सारी घटना स्मृति-पथ पर उदित हो गयी। औत्सुक्यवश फूल की मालाएँ खोजने गये तो देखा कि उनमें एक भी विद्यमान नहीं। अच्छी तरह समझ गये, कि मूर्ति के तिरोभाव के साथ-साथ उन पर के अलंकार भी तिरोहित हो गये। इससे चित्त में दृढ़ प्रतीति उत्पन्न हुई कि मूर्ति ने उन्हें दर्शन दिया, यह मिथ्या नहीं, परन्तु सम्पूर्ण सत्य है। इसीलिए वास्तव जगत् की वस्तु फूल के अलंकार तक मूर्ति के साथ-साथ तिरोहित हो गये। इसके दूसरे दिन इन भक्त ने गोपाल का दर्शन जब पाया तब देख पाये कि पहले दिन के तिरोहित सब अलंकार

उनके सब अङ्गों पर पड़े हैं। इस प्रकार की बहुत-सी घटनाएँ भक्त के जीवन में घटीं। आविर्भूत मूर्ति के साथ भक्त की घनिष्ठता क्रमशः बढ़ने लगी। वह मूर्ति आविर्भूत होकर भक्त के साथ केवल लीला-खेल ही नहीं करती, बल्कि भक्त के योग और ज्ञान के पथ पर अग्रसर होने में सहायता भी करती बाह्य गुरु, बाहर से उपदेश द्वारा ज्ञानदान करते थे एवं कर्म का पथ निर्देश करते थे, किन्तु अन्तर्यामी गुरु भीतर से प्रत्यक्ष रूप से तत्त्व का प्रदर्शन करते थे और साथ-साथ स्पष्ट रूप से, जिससे वह हृदयङ्गम होता, उसकी व्यवस्था करते थे। वे भक्त-हृदय में सर्वदा विद्यमान रहने पर भी जब तक भक्त का देहाभिमान सम्पूर्ण रूप से विगलित नहीं हो गया तब तक प्रयोजनानुसार बाह्य भाव से प्रकट हुए और उसे स्थूल उपदेश के द्वारा उद्‌बुद्ध करने की चेष्टा करते रहे।

साधक जैसे-जैसे विकास के पथ पर उठने लगा वैसे-वैसे गुरु भी उसे ऊर्ध्व स्तर के ज्ञान का उपदेश देने लगे। इस प्रकार ही पूर्वोक्त भक्त जीवन के पथ पर अग्रसर थे। एक बार उन्हें भगवान् ने विश्वरूपदर्शन भी कराया था। ऐसा भी देखा गया है कि अनेक समय लौकिक कार्य का उपदेश भी उनसे अयाचित भाव से मिल जाता था।

एक समय मैंने जिज्ञासा की, "भक्त ने जो दर्शन पाया उसके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ सुनीं, किन्तु उन्होंने साधारणतः किस मूर्ति का दर्शन पाया, इसके सम्बन्ध में आपने कुछ भी नहीं कहा।"

भगवान् ने उत्तर दिया, "उन्होंने प्रथम-प्रथम गोपाल मूर्ति का दर्शन पाया, उसके बाद किशोर-वयस्क श्रीकृष्ण मूर्ति का दर्शन पाया। उसके बाद एक दिन श्रीकृष्ण मूर्ति तथा इस देह के अनुरूप (अपने को दिखाकर) और एक मूर्ति एक बार ही उनके निकट आविर्भूत हुई। तब श्रीकृष्ण मूर्ति इस देह की प्रतिमूर्ति की ओर अङ्गुलि-निर्देश करके भक्त से बोली, इस बार से यह रूप ही तुम्हारे निकट आविर्भूत होगा, मैं और यह मूर्ति अभिन्न हैं, यह तुम समझ लो। यह कहकर श्रीकृष्ण मूर्ति अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद से यह मूर्ति उनके निकट आविर्भूत

होती एवं प्रयोजनानुसार उन्हें योग और ज्ञान का उपदेश देती। कभी-कभी विभिन्न देव-देवी की मूर्ति का भी वे दर्शन पाते थे—वस्तुतः सभी मूर्तियाँ तो एक की ही हैं। मूर्ति-भेद से स्वरूप-भेद कल्पनीय नहीं है। इस प्रकार मूर्ति-दर्शन, उपदेश-श्रवण व भावानुसार उनके साथ लीला व नाना प्रकार का व्यवहार—यह सब अध्यात्म-मार्ग का बहिरङ्ग मात्र है। अन्त में अद्वैतभूमि को प्राप्त होना ही होगा। ज्ञान की पराकाष्ठा व पूर्ण सार्थकता अद्वैतस्थिति में है—वहाँ भक्त व भगवान् में कोई भेद नहीं रहता, एक अव्यक्त आत्मसत्ता स्वयंप्रकाश रूप में विराजती है। भगवान् प्रकट होकर जीव को भावों के मध्य से, लीला-क्रीड़ा के मध्य से क्रमशः उसी परम लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। जो भी हो, भक्त की ऐसी उन्नति की अवस्था देखकर उनके अन्तरङ्ग और भी कई लोगों को दृढ़ आस्था हुई और उनमें भी विश्वास व व्याकुलता की वृद्धि के साथ-साथ किसी-किसी के निकट आविर्भाव भी होने लगा। कुछेक मास बीत गये हैं, सम्भवतः एक वर्ष से भी अधिक समय हो गया हो, इसी बीच अनेक लोगों के भीतर पूर्वोक्त प्रणाली से भगवान् का आत्म-प्रकाश हुआ है। इस सम्बन्ध की इतनी अधिक घटनाएँ हैं कि उन्हें थोड़े समय में समझा पाना सम्भव नहीं है। आप पृथक्-पृथक् रूप से उन भक्तों से मिलकर उनसे प्रश्न करके अनुसन्धान करेंगे तो सब विषय विस्तार से जान पायेंगे।"

मैंने कहा, "इतनी सरलता से इतनी दुर्लभ वस्तु को मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इस पर संसार साधारणतः विश्वास नहीं कर पाता। किन्तु आप जो कह रहे हैं, वह यदि वास्तव में सत्य हो तब तो यह सब व्यापार बड़ा भारी जान पड़ता है।"

भगवान् ने कहा, "प्राथमिक भगवद्दर्शन वस्तुतः कठिन नहीं है, किन्तु प्रकृत भगवद्दर्शन अत्यन्त दुरूह है। क्योंकि अनेक परीक्षाओं को पार करते हुए एवं अति कठोर कृच्छ्रसाधना का अवलम्बन करके साधना की वास्तविक भूमि में उपनीत होने के बाद वास्तविक गुरु के रूप में भगवान् का दर्शन प्राप्त होता है। तब उनके पास से जो उपदेश

प्राप्त होता है उसी की सहायता से अपरोक्ष अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार उत्पन्न होता है। किन्तु वर्तमान युग में मनुष्य का मन जैसा विश्वासहीन व श्रद्धाहीन है, उसमें प्राथमिक दर्शन भी अत्यन्त कठिन हो गया है। मनुष्य का चित्त आजकल तर्क व संशय-प्रधान है। सरल विश्वास आजकल अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिए सहज वस्तु भी अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है। भगवान् आविर्भूत होकर गुरुरूप में भक्त को चलाते हैं और जब उसके लिए जो आवश्यक होता है वैसा ज्ञान, उपदेश या शक्तिरूप से देते हैं। यह गुरु ही सद्गुरु हैं। इनको एक बार पा लेने पर फिर कभी गुरु के अभाव से होनेवाले कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ता।"

हमने वहुत समय तक भगवान् के साथ वार्तालाप किया था। उनकी बातें बहुत चित्ताकर्षक लगी थीं और किसी ग्रंश में भी शास्त्रविरुद्ध नहीं जान पड़ती थीं। किन्तु व्यापक रूप से एक ही समय, इस प्रकार भगवत् रूप का आविर्भाव एवं नियमित रूप से भक्तों की चालना करने का भार ग्रहण करना आश्चर्यमय लग रहा था। मैंने अपने मन के अनेक भाव भगवान् के सामने निवेदित किये। उन्होंने कहा, "वर्तमान समय में जीव की अत्यन्त दुरवस्था है। जीव के मलिन व अशक्त होने के कारण वास्तव में वह ठीक-ठीक पथ पर नहीं चल सकता औंर कुछ कर भी नहीं सकता। इसके अतिरिक्त उसको चला ले जायें, ऐसे ज्ञानी व्यक्तियों का भी अभाव है। इसीलिए वर्तमान युग के उपयोगी होकर भगवान् प्रकट हुए हैं।" उन्होंने और भी कहा, "वर्तमान युग में उनके अपने देह का विशेष उद्देश्य है। इस देह को आश्रय करके विश्वासी भक्तों के हृदय में एक ही समय अनेक स्थानों पर भगवत्स्वरूप प्रकट हो रहे हैं और भक्तों के साथ नाना प्रकार की लीला खेलकर भक्तों के चित्त का विनोद कर रहे हैं। इस देह का कोई वैशिष्टय है या नहीं, इस पर आपलोग विचार कीजियेगा।"

हमलोग उस दिन भगवान् को प्रणाम करके इस स्थान से उठे। शिक्षित व मार्जित रुचि सम्पन्न होने से भगवान् के साथ बातचीत करने में कोई असुविधा नहीं हुई। वे पहले कलकत्ता में वकालत करते थे और बहुत दिन कलकत्ता रहने के पश्चात् अन्तिम आयु में काशीवास के लिए

बनारस आ गये थे। बाद में सुना गया कि वे परलोकगत सन्तदास बाबाजी से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से परिचित थे। जब ताराकिशोर चौधरी नाम से उक्त सन्तदास बाबाजी महाराज कलकत्ता-हाईकोर्ट में वकालत करते थे तभी भगवान् के साथ अन्तरङ्ग रूप से मिलने का उन्हें बहुत बार सुयोग मिला था। श्रद्धास्पद ताराकिशोरबाबू ने इन्हीं के पास पातञ्जल-दर्शन के व्यासभाष्य का सम्पूर्ण अध्ययन किया था। इसके सम्बन्ध में बहुत-से संवाद बाद में प्राप्त हुए थे।

इसके पश्चात् हमलोग उन भक्तों में से बहुतों के साथ पृथक्-पृथक् रूप से मिले और इस व्यापार के विस्तृत विवरण के संग्रह की चेष्टा की। व्यक्तिगत रूप से किसी भक्त का नामोल्लेख करना मुझे संगत नहीं जान पड़ता। किन्तु सभी के साथ विचार-चर्चा करके इतना समझ पाया था कि भक्तलोग इन्हीं को साक्षात् भगवान् समझते थे। वास्तव में सभी भक्त साधारणतः इन्हीं के रूप का दर्शन पाते थे और जो लोग ध्यान करते थे, वे भी इन्हीं का ध्यान करते थे। कहीं कहीं आविर्भाव शीघ्र होता था, कहीं विलम्ब से। इसका भी अवश्य ही कारण है। किन्तु किसी-किसी के प्रति आविर्भाव बिल्कुल ही नहीं होता था यह भी देखा गया है। भगवान् ने कहा था कि यही वर्तमान युग का धर्म है। अब कठिन तपस्या करके भगवत्प्राप्ति के पथ पर जाना जीव के लिए सम्भव नहीं। भक्तिमार्ग ही कलि में उपयोगी है—इस भक्ति से योग व ज्ञान स्वयं ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। शङ्कराचार्य पर भगवान् की अटल श्रद्धा थी, किन्तु वे शङ्कर के शारीरभाष्य से व्यास के योगभाष्य को बहुत ऊँचा स्थान देते थे।

इस अभिनव भगवत्साधना का वृत्तान्त थोड़े ही दिनों में बहुत स्थानों पर प्रचारित हो गया। श्रीहट्ट, लङ्का, चट्टग्राम, वरिशाल, गोरक्षपुर आदि अनेक स्थानों पर लोगों ने इस साधन-प्रणाली को अपनाया था। इनमें से बहुतों को अनेक प्रकार की अनुभूति भी होती थी।

स्वर्गीय प्रणवानन्द स्वामीजी की एक शिष्या थीं, उनका नामोल्लेख नहीं कर रहा हूँ। वे योगमार्ग में खूब उन्नत हुई थीं। वे भी इन अभिनव

भगवान् के प्रधान भक्तों में से एक थीं। श्रीहट्ट आदि विभिन्न स्थानों पर उन्होंने बहुत लोगों को इस मार्ग की साधना में आकृष्ट किया था। इनमें से बहुतों को थोड़ी-बहुत अनुभूति व दर्शन होता था। जिसे जैसे दर्शन एवं उपदेश आदि प्राप्त होते वे यथासमय काशी में अपने गुरु या भगवान् के घर उसका विवरण भेज देते थे। कई लोग प्रतिदिन के अनुभव डायरी के आकार में प्रतिदिन लिख रखते थे, बाद में उन्हें पुस्तकाकार में निबद्ध करके कुछ महीने बाद भगवान् के पास भेज देते थे। इस प्रकार तीव्र वेग से चारों ओर इस लीला का विस्तार हुआ था। जब जहाँ से वे काग़ज आते, मैं भगवान् से लेकर उन्हें पढ़ता और लीला की प्रगति देखकर विस्मित होता। उस समय के विभिन्न भक्तों की समस्त अनुभूति का संग्रह करके एक साथ रखें तो वह एक महाभारत जितना विशाल ग्रन्थ बन जायेगा। यह लीला इसी तीव्र वेग से कुछ वर्ष चली एवं इस बीच किसी-किसी साधक को महाज्ञान का आभास तक मिला था, ऐसा सुना जाता है। किन्तु इसके पश्चात् प्रचार का वेग कुछ मन्द हो गया। पहले-पहले जो उत्साह था और जिस उद्यम के साथ भक्त लोग कार्य करते थे, काल-क्रम से उसमें शिथिलता आने के साथ-साथ प्रकाश में भी मन्दता आ गयी थी, यह अवश्य ही स्वाभाविक है।

इस लीला के समय स्वभावतः एक विरुद्ध पक्ष भी रचित हुआ था। किन्तु, बहुत बार देखा गया है कि विरुद्ध पक्ष के विरुद्ध आचरण रहने पर भी लीला का वेग बढ़ा है और लीला का प्रचार भी अधिक फैला है। विरुद्धशक्ति अन्तर्निहित सत्य की उत्तेजक हुआ करती है, उससे सत्य कभी भी अभिभूत नहीं होता। किन्तु जो सत्य को धारण करता है उसका हृदय यदि विश्वासहीन हो अथवा संशयाक्रान्त हो या वैषयिक-व्यापार-लिप्त हो, तो भगवान् की कृपाशक्ति के प्रकाश का द्वार रुद्ध हो जाता है।

इस प्रसङ्ग में एक शिक्षाप्रद व रोचक सत्य घटना का उल्लेख कर रहा हूँ। उससे सत्य का सन्धान सहज में पाया जा सकेगा। काशी की महाराष्ट्र-मण्डली में एक साधक इस लीला के विषय में जानकर, किस

प्रकार भगवान् के अनुग्रह-भाजन हो पायेंगे, इसके लिए व्याकुल हो गये। ये सज्जन मुझसे खूब परिचित थे और प्रायः ही मुझसे मिलने मेरे पास आते थे। उन्होंने एक दिन अत्यन्त आर्त्तभाव से मुझे अपनी आकांक्षा बतायी। मैंने उन्हें भगवान् द्वारा दिया गया साधारण उपदेश सुना दिया। इस उपदेश का मर्म यह है—यदि कोई इस लीला पर विश्वास कर सके और सरलभाव से उसको भगवत्लीला मान सके तो उसके लिए भगवदनुग्रह पाने के दो मार्ग हैं—एक भगवान् का अपना नाम। इस नाम से रचित एक कल्पित मन्त्र का मन-ही-मन चिन्तन करना होता है। भगवान् का अपना नाम 'किशोरी' था। इसीलिए यह नाम इस मन्त्र का प्रधान अवयव था। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक चित्र सामने रखकर उनकी मूर्ति का ध्यान किया जाना चाहिए। इन स्थूलमूर्ति भगवान् का रूप, उसका ध्यान व उनका नाम इन दोनों को अवलम्ब बना पायें तो साक्षात् रूप से भगवान् से मिलना व दर्शन सम्भव न होने पर भी सूक्ष्म रूप से उनका दर्शन व अनुग्रह पाना सम्भव है। यही भगवान् का निर्देश था और इसे वे सर्वत्र प्रचार करते थे। मैंने यही उक्त मराठी सज्जन को बता दिया। इसके बाद कुछ दिन बीत गये। सज्जन भगवान् के निकट तो गये नहीं, मेरे निकट भी फिर नहीं आये। एक दिन प्रातःकाल प्रातःकृत्य समापन करके हठात् वे मेरे निकट मिलने के लिए आये। उन्हें देखकर लगा, वे अत्यन्त उद्विग्न होकर आये हैं। वे कहने लगे—"उस दिन आपसे भगवान् की प्रचारित वाणी श्रवण करके स्वयं भगवदनुग्रह प्राप्त होने के लिए मैंने तीव्र उद्यम करना आरम्भ किया। मैं यथाशक्ति सर्वदा ही भगवान् के नाम-स्मरण करता हूँ, फोटो में दृष्ट उनके रूप का ध्यान करता हूँ। तीन-चार दिन के अभ्यास से ऐसा हुआ कि जिस ओर देखता हूँ उसी ओर भगवान् का रूप देख पाता हूँ—वृक्ष की ओर देखने पर आलोक के बीच भगवान् का रूप प्रत्येक पत्र में अङ्कित देखता हूँ। सुना है, भगवान् का वृद्ध शरीर है, किन्तु मैं उन्हें किशोर मूर्ति में देखता हूँ—मस्तक पर चूड़ा, गले में माला, बहुत कुछ कृष्णमूर्ति के सदृश। किन्तु मुख किशोरी भगवान् के उसी फोटो के अनुरूप है। इस प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद

आज प्रातःकाल एक अद्भुत घटना घटी। मैं प्रातःकाल शौचादि समापन करके अन्यान्य दिनों की भाँति आह्निक करने के लिए आसन पर बैठा। बैठने के साथ-ही-साथ मेरे निकट हठात् मेरे गुरु की मूर्ति प्रकट हुई। गुरुदेव १०-११ वर्ष पूर्व काशीलाभ कर चुके हैं। इतने दिनों के बीच कभी उनका रूप नहीं देखा। आज देखा, अत्यन्त रुष्टभाव से गुरुदेव मेरे सम्मुख आकर बैठ गये। उनके ललाट पर भस्मरेखा थी, विशुद्ध तेजः-पूर्ण उनकी मूर्ति थी। आँखें देखकर लगा, मानो अग्नि की छटा निर्गत हो रही है। उन्होंने मेरी ओर कुपित दृष्टिपात करके एक श्लोक उच्चारण किया। श्लोक यह है--

"मा गमः किमपि स्थानं यथापूर्वं समाचर।
भगवत्याः परः कश्चिद् भगवान् न हि वर्तते॥"

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मैं वृथा इधर-उधर विचरण न करूँ, एकमात्र गुरुदत्त साधन को लेकर तन्मय रहूँ, क्योंकि भगवती से उत्कर्ष-सम्पन्न भगवान् कोई वस्तु नहीं हैं। इससे समझता हूँ कि मैं जिस भगवान् का रूप-ध्यान करता हूँ और उनका नाम जपा करता हूँ, वे मेरे गुरुदेव के इष्ट नहीं हैं। वे मुझसे यह बात कहकर अन्तर्हित हो गये। मैं भगवती श्रीमाता (त्रिपुरसुन्दरी) का उपासक हूँ, उन्हें त्याग करके पृथग्भाव से भगवत्-चिन्ता करना गुरुदेव को अभिप्रेत नहीं है। इस परिस्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है ? मैंने भगवान् का नाम और रूप का ध्यान, दोनों का परित्याग कर दिया है।" उक्त मराठी सज्जन की इच्छा थी--एक दिन भगवान् का साक्षात् दर्शन करूँगा, किन्तु इस घटना के बाद फिर वह सम्भव नहीं हुआ।

बाद में जब भगवान् से मेरी भेंट हुई तब उन्हें मराठी सज्जन का वृत्तान्त आद्योपान्त वर्णन करके सुनाया। भगवान् बोले—"सज्जन का दुर्भाग्य कहना होगा, क्योंकि उन्होंने भगवदनुग्रह पाकर भी खो दिया। उनका समझना उचित था, गुरुदत्त नाम को सुदीर्घ काल जप करके भी गुरु का स्थूल दर्शन बहुत वर्ष के बाद भी एक दिन के लिए उन्हें नहीं हुआ, अथच

इस नाम-जप के साथ-साथ ही गुरु की स्थूल मूर्ति प्रकट हुई। इसका हेतु क्या है ? एक सामान्य विचार करने पर वे समझ सकते थे, यह भगवान् की एक परीक्षामात्र है। कृपाप्रार्थी भक्त की नाना भाव से परीक्षा करना भगवान् का स्वभाव है। सज्जन परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाये।"

यह घटना भगवान् के लीला-विस्तार का प्रथम व्यापार है। इसके बाद लीला-विस्तार बहुत दूर तक अग्रसर होने पर उक्त भद्रजन की दृष्टि फिर इस ओर पतित हुई। जब वे बहुत लोगों के मुख से इस लीला की ख्याति सुन पाते तब पुनः उनके मन में भावों की तरङ्ग उठने लगती—वे भलीभाँति अनुभव करने लगे कि वे परीक्षा में अनुतीर्ण हो गये हैं, नहीं तो अवश्य ही भगवत्कृपा से एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त कर पाते। सच में ही उनका हृदय अनुताप-दाह से जल रहा था तथा उनके नेत्र अश्रुभार से आक्रान्त थे। उन्होंने निराशभाव से कहा—"मेरे लिए क्या और कोई मार्ग नहीं है ?"—मैंने कहा—"इसका उत्तर मैं नहीं जानता, कृपा अहैतुक भाव से आती है, किन्तु उसका प्रत्याख्यान कर देने पर वह कृपा पुनः प्राप्त होगी कि नहीं, इसमें सन्देह है। हाँ, आप स्वयं प्रत्यक्ष रूप से भगवान् से मिलकर उनको आत्मनिवेदन करें तो शायद कोई प्रतीकार हो भी सकता है।" इसके पश्चात् एक दिन इन सज्जन ने भगवान् के पास उपस्थित होकर कातरभाव से अपनी प्रार्थना निवेदित की। भगवान् तब पातालेश्वर में रहते थे। भगवान् स्वभावतः दयालु थे, उसकी कातरता व दैन्य ने उन्हें विगलित कर दिया। उन्होंने पुनः उसे पहले की तरह श्रद्धा के साथ जप व ध्यान करने का आदेश दिया। ये सज्जन घर लौट आये और पुनः पहले की भाँति भगवान् का नाम-जप व रूप-ध्यान करना आरम्भ कर दिया। यह पहली घटना के कुछ वर्ष बाद की बात है। इसके पश्चात् ये सज्जन सन्ध्या के पश्चात् अर्थात् सायंकृत्य समाप्त करके भगवान् के दर्शन के लिए पातालेश्वर के मकान में गये। उस समय रात के ८ बजे थे। भगवान् दूसरी मंजिल पर एक बड़े हॉल में एक ओर अपने आसन पर बैठे थे, बहुत से भक्त उन्हें घेरकर बैठे थे। उनमें पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध सभी थे। इस समय साधारणतः कीर्तन

एवं सत्सङ्ग होता था। इन सज्जन की इच्छा थी कि इस सत्सङ्ग में योगदान करके स्वयं भी कुछ तत्त्वालोचना करेंगे। यही भाव लेकर वे घर से रवाना होकर आये थे, किन्तु जब उन्होंने भगवान् के घर का बाहर का द्वार पार किया—तभी एक अद्भुत घटना घटी। यह द्वार पार करके, आँगन पार होकर, सीढ़ी से चढ़कर दूसरी मंजिल पर जाना होता था। किन्तु इन्होंने बाहर का दरवाजा पार करते ही देखा कि उनके पहले गुरुदेव उग्र रूप धारण करके सामने खड़े हैं—उन्होंने क्रोधाविष्ट नेत्रों से इनको देखकर अपने दाहिने हाथ द्वारा उसके गले में धक्का देकर, ठेलकर उनको द्वार से बाहर निकाल दिया। साथ ही वे स्वयं अन्तर्धान हो गये। इधर ये सज्जन प्रायः मूच्छित-सो अवस्था में द्वार के बाहर आकर हाँफने लगे। इस बार गुरु ने उनको कुछ कहा नहीं, किन्तु करस्पर्श द्वारा यह स्थान छुड़वा दिया। प्रकृतिस्थ होने में इनको प्रायः दो घण्टे का समय लगा। फिर उन्होंने भगवान् के पास जाने का उद्यम नहीं किया। इसके बाद वे घर लौट गये और दूसरे दिन सुबह मुझसे मिलकर पहली रात की सारी घटनाएँ मुझे सुनायीं। उन्होंने कहा कि अब वे कभी भी भगवान् का नाम नहीं जपेंगे। उनकी खूब शिक्षा हो चुकी है। साधन-पथ पर चित्त की दुर्बलता अत्यन्त हानिकर है।

मैंने उनका विवरण सुनकर और कोई मन्तव्य नहीं प्रकट किया। क्योंकि स्वभाव के नियम में जहाँ जो होता है, वही मंगल है। किन्तु अवसर पाकर मैंने यह घटना भगवान् को बतायी। उन्होंने सब कुछ सुनकर पहले जो कहा था, अब भी ठीक वही कहा। कहा कि इन सज्जन का अभी भी समय नहीं हुआ है। मन की जिस अवस्था में भगवान् की कृपा प्राप्त होती है, वह अब भी उनको उदित नहीं हुई। भगवान् की कृपा धारण करने के लिए योग्यता चाहिए। परीक्षा उसी का निदर्शन-मात्र है—कहकर हँसने लगे।

इस भागवत लीला में किसी-किसी स्थान पर बहुत ही अद्भुत् बातें देखने में आती थीं। एक दिन एक स्थानीय विधवा ब्राह्मणी, आयु साठ के ऊपर होगी, भगवान् के विशेष अनुग्रह की पात्रा बनी। उसने बहुत दिन से

लोगों के मुख से और कभी-कभी साक्षात् भक्तों के मुख से भी इस लीला का विवरण सुना था। सुनकर उनके हृदय में स्वभावतः ही एक अहेतुक श्रद्धा का उदय हुआ और वे सदा ही, कभी-न-कभी भगवान् का दर्शन करेंगी, इस उत्कण्ठा से नामजप एवं लीलाकीर्तन इत्यादि नियमित रूप से करती थीं। एक दिन मध्यरात्रि में अतर्कित भाव से उन्होंने एक अप्राकृत बालक के आविर्भाव का अनुभव किया। वृद्धा अति दरिद्र थीं, बहुत दिन से काशीवास कर रही थीं। बहुत ही कठिनाई से इनके काशी-बास का व्यय चलता था। तब वे अकेली एक अलग घर में ही रहती थीं।

जब उनके घर में अकस्मात् इस अद्‌भुत अमानव शिशु का आविर्भाव हुआ, तब वे जपादि समाप्त करके सोने के लिए उद्यत हो रही थीं। यह मध्यरात्रि की घटना है। उनकी आँखों में नींद भी कुछ-कुछ भर रही थी, किन्तु इस अप्राकृत शिशु के आविर्भाव के साथ-साथ ही मुहूर्त्त-भर में ही उनकी तन्द्रा एवं आँखों का जड़त्व कट गया। केवल वही नहीं, उनके हृदय में एक अपार्थिव वात्सल्यभाव का उदय हुआ। उनको कोई सन्तान नहीं थी, सुतरां वात्सल्य रस का आस्वादन उनके जीवन में कभी नहीं हुआ। फलस्वरूप विधवा रूप में, ब्रह्मचारिणी रूप में उनका पूर्वजीवन बीता था। किन्तु आज इस अपार्थिव शिशु का आविर्भाव होने पर उनके हृदय के वात्सल्यभाव का द्वार खुल पड़ा। शिशु ने आविर्भूत होते ही कहा, "मुझे खाने को दो"। यह कहकर वह वृद्धा की गोद में कूद पड़ा। यह भगवत्लीला या योगमाया का खेल है, इसे वृद्धा बिल्कुल भूल गयीं। तब वे बोलीं—"बच्चे ! क्या खाने को दूँ ? घर में तो कुछ भी नहीं है।" वृद्धा की इच्छा हो रही थी कि हो सके तो और कहीं से कुछ अच्छा-सा खाद्य ले आये, किन्तु समय अनुकूल न था क्योंकि यह मध्य-रात्रि थी। शिशु जब जिद करने लगा—"माँ भूख लगी है, खाने को दो।" वृद्धा तब कुछ हतप्रभ होकर लज्जा का अनुभव कर रही थी। तब बालक ने कहा—"माँ मुझे मूड़ि (चावल का लावा) खाने का मन है। इस हाँड़ी में मूड़ि है, निकालकर दो माँ, खाऊँगा।" लाई निकालते ही बालक ने अपने हाथ से कुछ मुठ्ठियाँ मुँह में डाल लीं और चबाने लगा। इसके

बाद कहने लगा, "माँ मुझे गोद में लेकर बैठो।" वृद्धा शिशु को गोद में लेकर बैठ गयीं। शिशु के अङ्गस्पर्श के साथ-साथ ही वृद्धा का भाव परिवर्तित होने लगा। देखते-देखते उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया और उसके बाद गंभीर समाधि-भाव का उदय हुआ। अब तक वृद्धा आसन पर उपविष्ट थीं--समाधिभङ्ग के बाद कहीं किसी को नहीं देख पायीं। किन्तु घर में बिखरी मूड़ि देखी और रात की घटना की स्मृति हृदय में जाग उठी। इस प्रकार बीच-बीच में उन्हें गोपालमूर्ति का दर्शन होता। कुछ दिन के बाद जब उनका मन अन्तर्मुख हो गया तब फिर उस मूर्ति का दर्शन नहीं हुआ। तब वृद्धा का अन्तर्जगत् में प्रवेश-लाभ हुआ।

इस प्रकार की बहुत-सी घटनाएँ बहुत लोगों के जीवन में घटीं। इस समय मन में हुआ मानो कृपा की बाढ़ आ गयी। जिसका चित्त विश्वास और भक्ति के साथ भगवान् की ओर उन्मुख होता और उन्मुख होकर उक्त महात्मा के साथ आन्तरिक योग-स्थापन होता, उसे ही कुछ-न-कुछ अनुभूति प्राप्त होती। अवश्य बहुतों को नहीं होती, यह भी देखा है और बहुत लोग विभिन्न कारणों से इस धारा के विरुद्धवादी थे, यह भी जानता हूँ। किन्तु यह भी सत्य है कि विभिन्न स्थानों में कुछेक वर्षों के बीच एक तूफान मच गया। जो धर्म-जगत् के इतिहास से अवगत हैं वे इस प्रकार के व्यापक आन्दोलन की कथा से अवगत हैं। इस समय व्यापक भाव से भगवत्शक्ति का खेल चल रहा है। भगवान् के आश्रय में रहकर किसी-किसी ने सचमुच ही उन्नति-लाभ की, यह जानता हूँ। फिर किसी-किसी का अनुभव कुछ दिन पर्यन्त ही चलकर बाद में बन्द हो गया, यह भी जानता हूँ। इस विराट् आन्दोलन के समय उक्त भगवान् के एक अन्तरङ्ग भक्त और आत्मीय स्वयं भगवान् की कृपा-लाभ कर अध्यात्ममार्ग में बहुत दूर तक अग्रसर हुए थे। वे बीच-बीच में पत्र द्वारा भगवान् को सूचित करते थे। इस प्रकार का एक पत्र मेरे पास संरक्षित था। उससे कुछ अंश नीचे उद्धृत कर दे रहा हूँ। इस उद्धृत पत्रांश के पढ़ने पर अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि, भगवदनुग्रह को भाव के द्वारा पाना उतना कठिन नहीं, किन्तु अपने साधन-

बल से उसे ग्रहण कर रखना तथा उसका अवलम्बन करके आत्म-शक्ति का विकास करना अत्यन्त कठिन है।

उनका उद्धृत पत्र इस प्रकार है—"साधन के सम्बन्ध में जो सब पत्र इससे पहले लिखे हैं वह आपकी अवगति के लिए नहीं—उन सब पत्रों को पढ़कर यदि कोई सुकृतिमान् पुरुष भगवत्-माहात्म्य की एक बिन्दु की उपलब्धि करके उसकी ओर धावित हों, इस उद्देश्य से लिखे हैं। ईश्वर की कृपा होने पर ही धर्मतत्त्व का अनन्त रहस्य-समूह एक-एक करके प्रकाशित होगा। सुतरां अधिक लिखने का कोई प्रयोजन नहीं है। तब भी मैंने साधन के सम्बन्ध में जो सब बात लिखी है उसमें जो अतिरञ्जित भक्ति है, उस पर कोई ध्यान न दे। यह सब कुछ ही सत्य है। सत्यस्वरूप वस्तु का लाभ करना हो तो पहले अन्तर-बाहर सत्य होने की चेष्टा करनी होगी। इसे ही धर्म की मूल-भित्ति समझता हूँ। धर्म के घर में कृत्रिमता या धोखेबाजी नहीं चलती। सूई की नोक-परिमाण कृत्रिमता रहने पर हजार बार 'भगवान्' 'भगवान्' करो, सब कुछ एक क्षुद्र द्वार से बाहर हो जायगा। रामकृष्ण परमहंस यह बात कहते थे। अवश्य मनुष्य-मात्र में ही छिद्र है। यह छिद्र ढाँकने के लिए ही साधना आवश्यक है।"

"मैं अपने छिद्र को क्यों छिपाना चाहता हूँ?"

"इससे पहले आपको जो विस्तारित पत्र दिया है, उसके अव्यवहित बाद ही से चित्त की एक अद्भुत प्रशान्तिवाहिता स्थिति का अनुभव करने लगा हूँ। अजस्र ज्ञानस्रोत प्रवाहित होने लगा है। अवश्य यह ज्ञान विशुद्ध ब्रह्म-ज्ञान नहीं है। तब भी यह उसका आभास है, इसमें सन्देह नहीं। स्वच्छ दर्पण के सम्मुख जो वस्तु रखी जाती है उसका परिष्कार प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है। जिस किसी जटिल विषय में ध्यान करता हूँ, वही प्रकाशित हो जाता है। अनन्तज्ञान का फव्वारा फूट पड़ा है—आओ, किन्हें कितना ज्ञान चाहिए। ज्ञान कहने से पुस्तकस्थ तर्क-विचार न समझें, भाव या कल्पना भी न समझें। यह प्रत्यक्ष दर्शन—प्रत्यक्ष अनुभूति है। किसका दर्शन वा किसकी अनुभूति? जो प्रकाशस्वभाव वस्तु

अनन्ताकार में, जगद् ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है उसी की अनुभूति। यही मेरा आत्मा हैं। मेरे साथ एकाकार हैं।

"यह इतना स्निग्ध, तरल और कोमल स्वभाव का है कि अनिर्वचनीय उच्छ्वास उनमें सदा ही निहित रहता है। इस उच्छ्वास को अहेतुकी भक्ति कहते हैं। ऐसी भक्ति ही आत्मा का स्वरूप है। तब भी जो उसे कहीं-कहीं मन की वृत्ति कहा है वह मन के आत्मरूपत्व को लक्ष्य करके। यह अहैतुकी भक्ति स्वतःप्रवृत्त है। इसलिए उसमें ज्ञान का सारांश चिदंशस्वरूप कहा गया है। महायोगेश्वर भगवान् कपिल ने कहा है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

"अग्नि जिस प्रकार भुक्त द्रव्य का परिपाक करती है, इस अहैतुकी भक्ति का सूत्रपात होते-होते ही वह जीवदेह को उसी प्रकार शीघ्र जीर्ण कर डालती है।

"जिस अवस्था में भक्ति, भक्त और भक्ति के पात्र एकाकार हो जाते हैं, वही यथार्थ भक्ति की अवस्था है। जिस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक होकर उद्भासित होते हैं, वही विशुद्ध ज्ञानावस्था है। इस प्रकार की भक्ति को यथार्थ भक्ति भी कहा जाता है, ज्ञान भी कहा जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को ज्ञान भी कह सकते हैं, भक्ति भी कह सकते हैं। जब तक मन बाहर-बाहर घूमता रहता है तब तक यह ज्ञान, भक्ति स्वाभाविकी होने पर भी आवृत रहती है। बाद में ईश्वर-कृपा से ब्रह्मपथ में प्रवेश करने पर निखिल धर्मतत्त्व रहस्य उद्घाटित होता है—धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, गुहायां निहितं ब्रह्म शाश्वतम्। कोई किसी भी मार्ग से चले, धर्मतत्त्व जानने के लिए उसे इस पथ से जाना ही होगा।

मायाशक्ति वा आवरणशक्ति जीव को बलपूर्वक ब्रह्मपथच्युत करके इस सूक्ष्म पथ के बाहर रखती है। इसलिए जीव, जगत् के स्थूलतत्व के सिवा और कुछ नहीं देखता है। इसलिए जीव धर्म-विमुख होकर अनन्त-

व्यापी ईश्वरसत्ता को नहीं समझता। यह मायाशक्ति जिनके सम्पूर्ण अधीन हैं वे ही ईश्वर हैं। वे सदा ही स्वाधीन हैं। वे "गुह्यातिगुह्य गोप्ता" हैं, किसी के निकट अभेदभाव से पकड़ में आना नहीं चाहते।

"जीव जब तीव्र संवेग और वैराग्य को लेकर मुक्तिपथ पर चलता है, वे उसकी प्रबल आकांक्षा देखकर परितुष्ट होते हैं और उसके अनजाने उसे उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर चलाते हैं। तब भी जीव सोचता है, यह उन्नति मैंने स्वयं अर्जित की है। अन्त में, उसके प्रबल वैराग्य और संवेग की कठोर परीक्षा लेकर उसका अहंकारबीज ध्वंस करते हैं। देहाभिमान ध्वंस होने पर जीव समझ पाता है कि आरम्भ में किसने उसका आकर्षण किया, कौन उसके अन्तर में वैराग्यबीज का वपन करके संसार से निवृत्त करके इस पथ पर लाया, किसने उसके हृदय-पट में क्रमशः अपना तत्त्व-समूह प्रकाश करके अन्त में अभिमान को नष्ट किया है। ऐसे कृपामय पुरुष में आत्म-समर्पण न करके मनुष्य और क्या कर सकता है ?

"जीव जब समझ पाता है कि अहङ्कार द्वारा अहङ्कार नष्ट नहीं होता, तब वह अहङ्कार के बिना अतीत वस्तु की भक्ति न करके रह नहीं पाता। तब से ही वह यथार्थ भक्त होता है। परमपुरुष की ज्ञानपूर्वक भक्ति करने पर ही स्वयं रह नहीं पाते, स्वयं तत्त्वतः उसके निकट अभेदभाव से प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार के भक्त के निकट सर्वमयकर्ता ईश्वर भी दास हो जाते हैं। श्रीभगवान् ने उद्धव से कहा है—

"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधकाः समदर्शिनः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥"

"किन्तु ईश्वर जिसके प्रति अधिक दयार्द्र हैं, उसे 'वे ही एकमात्र सर्वमयकर्ता हैं' इस ज्ञान का आभास देते हैं। इस ज्ञान-प्राप्ति-मात्र से जीव उनका कृपाप्रार्थी वा भक्त हुए बिना नहीं रह पाता। बाद में साधन-पथ पर अग्रसर होने पर जब अहङ्कार नष्ट हो जाता है, तब इस ज्ञान की परीक्षा

मात्र होती है। जिस क्षण साधक उन्हें सर्वकर्ता समझ पाता है उस क्षण से ही उसके ऐहिक पारत्रिक सर्वविध भय का अवसान हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। वह फिर परीक्षा की परवाह नहीं करता। कैसे, इसका एक सामान्य उदाहरण देता हूँ।

"एक वुद्धिमान् बालक स्कूल में पढ़ता था, किन्तु पढ़े हुए को याद नहीं रखता था। वार्षिक परीक्षा के एक मास पूर्व परीक्षक निर्वाचित होने पर उसने सर्वोच्च परीक्षक को घर पर शिक्षक नियुक्त कर लिया। शिक्षक बालक को पढ़ाने के लिए आकर समझ गये कि उनका छात्र विद्वान् न होने पर भी वुद्धिमान् है। बालक शिक्षक को पाकर निर्भय हो गया। शिक्षक को अपयश का भय था। इसलिए वे छात्र को पास न कराकर और क्या करेंगे ? इस प्रकार जीव के ईश्वर को आश्रय करने पर उनका दायित्व बढ़ जाता है। इसलिए वे "गुह्यातिगुह्यगोप्तृत्व" पसंद नहीं करते। सहज में किसी की समझ में आना नहीं चाहते। अधिकांश जीव को अलक्ष्य रहकर ही आकर्षण करते हैं। जीव उस आकर्षण को नहीं समझ पाता।

"समझो, 'मैं शुद्ध हूँ। मैं अपने बल से मुक्तिलाभ करूँगा' (अपना बल तो है ही, किन्तु अहङ्कार-विहीन "मैं" ही जो ईश्वर है उसे नहीं समझता)। ईश्वर भी उसके भले-वुरे के लिए कोई स्पष्ट दायित्व नहीं रखते। कैसे—"तुम स्वयं करते हो, इसका भला-वुरा मैं क्या जानता हूँ ?" "स हि सर्ववित् सर्वकर्ता च" यह ज्ञान जिनका प्रतिष्ठित हुआ है वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं, वे ही यथार्थ भक्त हैं। इस प्रकार के ज्ञानी भक्त अत्यल्प ही देखे हैं। महात्मा बारदी के ब्रह्मचारी कहते थे—"मैंने जीवन में दो ही ब्राह्मण देखे हैं—एक काशी के तैलङ्ग स्वामी, दूसरे मक्का के अब्दुल गफूर।" मैंने जीवन में जो दो-तीन ज्ञानी भक्तों को देखा है उनमें एक आपके गुरुदेव पूज्यपाद श्रीयुत् केशववाबू हैं। आपके आश्रितगणों में श्रीमती दीदी आपकी कृपा पा करके इस प्रकार की ज्ञानी भक्त हो सकती हैं। क्योंकि उनके भीतर इसके उपयुक्त गुण और शक्ति है। बाकी हम सभी अपदार्थ हैं। हमारी आशा अति अल्प है।

"मेरी इस बात से अनेक लोग मुझ पर खड्गहस्त होंगे। क्योंकि भगवान् सब भक्तों को ही स्नेह करते हैं, सभी उनकी सेवा करते हैं। अतएव वे सभी भक्त हैं। मैं समझता हूँ हम सभी आपके स्थूलदेह के भक्त हैं; कोई आपको स्थूलदेह के अतिरिक्त नहीं जानता। प्रकृत भगवद्भक्त कोई नहीं है। जब तक ईश्वर में सर्वभूत और सर्वभूत में ईश्वरबोध से भक्ति-प्रेम नहीं आता तब तक ज्ञान वा भक्ति नहीं कही जायगी। यह ज्ञान या भक्ति, आपके देह को पीसकर गंगाजल में घोलकर पी जाने पर भी नहीं मिलेगी। यह स्वतन्त्र पुरुष की स्वतन्त्र कृपा के सापेक्ष है। इसलिए आपके देह की जो कुछ भी सार्थकता नहीं, यह नहीं कहता। यह देह हमारा भरोसा''''है, नहीं तो पत्र लिखता ?

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥"

"आपके इस 'परं भावं' को हम जानकर भी नहीं समझते हैं। सुतरां हम सभी आपकी अवज्ञा करते हैं, और क्या कहें ? आपकी प्रकृति अति तरल है, ऐसा समझता हूँ। तरल वस्तु की तरलता के अतिरिक्त स्वतन्त्र आकृति कुछ भी नहीं है। जब जिस पात्र में रखी जाती है तब वह आकार धारण करती है। भक्त के निकट उसके चित्त का निगूढ़ गुह्यभाव अवलम्बन करना ही ईश्वर का स्वभाव है। यह बारम्बार समझा है। किन्तु निज स्वरूप का प्रकाश करना उनकी सर्वोच्च कृपा के अधीन है।

जो हो, अनेक अवान्तर बातें आ गयी हैं। साधना के सम्बन्ध में जो कहा था उसे लिखने पर यह पत्र बढ़ जायगा। और समय भी नहीं है। पूर्वोक्त अवस्था का परिपाक होकर क्रमशः मधुमती भूमि में आ पड़ा हूँ। इसका वर्णन पृथक् पत्र में बाद में दूँगा। इस क्षण मेरा जिज्ञास्य यह है कि मैंने इतनी साधना की, किन्तु ये सब अद्भुत भूमियाँ वा स्तर कहाँ थे ? जो स्वप्न के अतीत हैं, जो कल्पना के बहिर्भूत हैं, अब देखता हूँ, क्रमशः वह बाहर हो रहा है। सो हो, इस क्षण मेरी प्रार्थना यह है कि हम जितने प्राणी आपके संस्पर्श में आये हैं, उनमें कोई पड़ा न रहे है, वे सभी शीघ्र-शीघ्र सहज ही कार्य शेष करके जगत् में आपके कीर्ति-स्तम्भ

रूप में विराजित हों। काल का विश्वास नहीं है। वह कब किसे देह-सम्बन्ध से विच्युत कर देगा इसे कोई ठीक-ठीक कह सकता है? जो एक बार जग चुके हैं वे फिर न सो जाएँ। स्रोत में पड़कर वे पार चले जाते हैं। अधिक क्या लिखूं? आपको मेरा प्रणाम पहुँचे।''

''यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधिषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥''

× × × ×

साधनतत्त्व के सम्बन्ध में भगवान् के साथ अनेक बार मेरी चर्चा हुई। वे कहते थे—''जिसे साधन-पथ कहा है वह पुरुषकार का पथ है अर्थात् व्यक्तिगत कर्म का पथ है। जब तक चित्त में कर्तृत्व-अभिमान विद्यमान रहता है तब तक यह पथ अवलम्बन करके चलना होता है। चित्तशुद्धि न होने पर अहंकार निवृत्त नहीं होता। इसलिए बाध्य होकर साधन-पथ पर ही चलना होता है। किन्तु चित्त शुद्ध होने पर विशुद्ध सत्त्वगुण का उदय होता है। किन्तु यह सत्त्व शुद्ध होने पर भी पूर्ण शुद्ध नहीं है, क्योंकि इसमें अविद्या-बीज निहित रहता है। तथापि उस समय आत्मतत्त्व का आभास दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि तब बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है, अतः उसमें आत्मतत्त्व का प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है।

''बुद्धि के मलिन रहने तक तन्निहित आत्म-प्रतिबिम्ब अदृश्य रहता है—बुद्धि के निर्मल होने के साथ-साथ यह अदृश्य प्रतिबिम्ब दृश्यमान होता है। बुद्धि का ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं है कि अपने से वह आत्मा में प्रवेश करेगी। बुद्धि अपना राज्य अतिक्रम करके नहीं जा पाती। समय पूर्ण होने पर आत्मा वा ईश्वर अपनी शक्ति के बल से बुद्धि का संहार करके एकेश्वर होकर विराजते हैं। इसे ही योगिगण 'निरोध' कहते हैं। इस समय किसी प्रकार की चित्तवृत्ति नहीं रहती, इसलिए आत्मस्वरूप की उपलब्धि सम्भव होती है। किन्तु यह उपलब्धि सम्यग्ज्ञान नहीं है। यह निरन्तर होने पर इसके ही प्रभाव से अविद्या, कर्म-संस्कार प्रभृति सारे आवरण क्रमशः ध्वंस को प्राप्त होते हैं।

"अविद्या-निवृत्ति से आत्मदर्शन होता है, यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर किसी को कभी आत्म-दर्शन न होता। श्रुति में है 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—अर्थात् उस परम सत्य का साक्षात्कार होने पर हृदयग्रन्थि-भेद, सकल संशय का उच्छेद एवं सकल कर्म का क्षय संघटित होता है। गीता में भी है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते' अर्थात् उस परमतत्त्व का दर्शन होने पर ही वासनारूप रस चिरदिन के लिए निवृत्त हो जाता है, उसके पहले नहीं। इन सब प्रमाणों से समझ में आता कि है दर्शन का स्थान पहले है, उसके बाद अविद्या-निवृत्ति, वासना-क्षय प्रभृति का स्थान है। किन्तु ऐसा होने पर भी सत्यदर्शन का आभास होने पर अविद्या प्रभृति का बल बहुत कुछ शिथिल हो जाता है। अद्वैत ईश्वर की शक्ति के द्वारा ही आत्मदर्शन सम्भव होता है। व्यक्तिगत साधना के फलस्वरूप विशुद्ध सत्त्व की अवस्था प्राप्त होती है। उसके बाद अपरोक्ष ज्ञान के लिए मस्तक अवनत करना ही होगा—महामाया के चरणतल में लोटे बिना पूर्ण सत्य का द्वार नहीं खुलेगा। द्वार खुलना अर्थात् आत्मशक्ति या कृपा का सञ्चार। जिसे पहले अहंकार कहा है, वह चित् और अचित् की ग्रन्थिमात्र है, वह तब पूर्ण रूप में भग्न हो जाती है। योगिगण जो व्युत्थान के सदृश निरोध का भी संस्कार स्वीकार करते हैं, उसका यही एकमात्र कारण है।"

एक दिन भगवान् के साथ प्राचीन योग के रहस्य के सम्बन्ध में बात हुई। मैंने उनसे जिज्ञासा की—"गीता में—'योगो नष्टः परन्तप' कहकर जो प्राचीन योग नष्ट हो गया, कहकर उल्लेख किया है वह कौन-सा योग है ?" भगवान् बोले—"यह प्राचीन योग श्रीकृष्ण के समय भी तो लुप्त था। जो कौशल तब केवल विशेषज्ञ जन जानते थे, वह यह है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।' किन्तु इस कौशल का विस्तारित ज्ञान साधारणतः किसी को ज्ञात नहीं था। अवश्य, जो गुह्य तत्त्ववित् हैं उनकी बात नहीं कह रहे हैं।" भगवान् बोले—"प्रणव के तीन अंश हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। ये तीन तेजः पृथक्-पृथक् हैं। इन तीन तेजस् के पृथक् न होने पर सृष्टि आदि कोई

व्यापार सम्पन्न नहीं हो पाता। जहाँ सृष्टि नहीं, वहाँ ये तीन तेजः एकाकार होकर ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप में विराजते हैं। तब शब्दब्रह्म में स्पन्दन नहीं रहता, निस्पन्द शब्दब्रह्म में जब कम्पन उद्भूत होता है तब वही ब्रह्माकार वाक् तीन भागों में विभक्त होती है अर्थात् तीन धाराएँ बहिर्गत होती हैं। यहाँ से ही सृष्टि की सूचना है। यही गीता में है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"ब्रह्मधाम सूर्य, चन्द्र और अग्नि—इन तीन तेजस् द्वारा आलोकित नहीं होता—वह स्व-प्रकाश है। अन्य सभी कुछ इन तीन धारा के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं। अर्थात् प्रणव का या वेद का सामर्थ्य नहीं है कि उसके स्वरूप को प्रकाशित कर सके, वरन् स्वरूप के प्रकाश से ही प्रणव प्रकाशित होता है। सृष्टिकाल में जैसे ये तीन धारा पृथक् होती हैं वैसे प्रलयकाल में ये तीन तेजः एक स्थान में आकर मिल जाते हैं और एकमुखी धारा में ब्रह्मपथ में प्रवेश करते हैं।"

"आजकल के प्रचलित स्थूल योगमात्र में अर्थात् षट्चक्र-भेद प्रभृति उपाय में ठीक-ठीक एकाग्रता नहीं होती। इसीलिए निरोध भी पूर्ण नहीं होता—समाधि की गाढ़ता जितनी भी हो तब भी संस्कार तुरंत नहीं समाप्त होता। इसका एकमात्र कारण यह है कि ये तीन तेजः एकत्र करने का कौशल आजकल प्रायः कोई नहीं जानता।

मेरुपथ के दक्षिण में सूर्य, वाम में चन्द्र और मध्य में अग्नि हैं। प्रचलित मार्ग से अग्नि-साधना की प्रक्रिया ठीक प्रकार से की जाती है एवं उसके फलस्वरूप अग्नि को निम्नतम स्तर से जगाकर एवं ऊर्ध्व में उत्थापित करके यथास्थान रक्षा की जाती है। षट्चक्र-साधन के फलस्वरूप ज्ञानचक्षु का उन्मेष उसके द्वारा ही सिद्ध होता है। किन्तु उसके द्वारा ऊर्ध्वगति-लाभ नहीं किया जाता और अद्वैत स्थिति का पथ भी नहीं खुलता। सूर्य और चन्द्र का जागरण और परस्पर मिलन नहीं होने पर

ब्रह्मपथ की प्राप्ति की आशा सर्वथा व्यर्थ है। अग्नि के द्वारा सूर्य और चन्द्र को मिलाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु पक्षान्तर में साधन-कौशल से सूर्य और चन्द्र को परस्पर मिला पाने पर अग्नि आकर उसके साथ स्वयं योग देता है। अर्थात् मूलाधार से जो तेजस् उत्थित होकर भ्रूमध्य के किञ्चित् ऊपर स्थित होता है, वह अग्नि है। यह तेजस् अकेला सहस्रार में नहीं पहुँच पाता है।

एक दिन अर्जुन के विश्वरूप-दर्शन के सम्बन्ध में भगवान् के साथ आलोचना हुई। मैंने उनसे जिज्ञासा की—"विश्वरूप-दर्शन ज्ञान की चरम भूमि है, यह समझ में नहीं आता। अर्जुन के दिव्यचक्षु-लाभ के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है?"

भगवान् बोले—"दिव्यचक्षु ज्ञान की श्रेष्ठ सम्पद् नहीं है। अर्जुन को श्रीकृष्ण के अनुग्रह से अल्प समय के लिए दिव्यचक्षु प्राप्त हुए थे। किन्तु उसका भी तेज वे सह नहीं पाये। अर्जुन का विश्वरूप-दर्शन प्रकृत ज्ञान की अवस्था नहीं है। सर्वत्र आत्मबोध अर्थात् सर्वात्म-भाव इससे विशिष्ट अनुभूति है। वह अर्जुन को नहीं हुई है। ज्ञानचक्षु का विकास न होने पर वह नहीं होती।

"अर्जुन ने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्वदर्शन किया था, किन्तु अपने से बाहर, अर्थात् महाशून्य के बीच। सुतरां उनका द्वैतबोध तब भी निवृत्त नहीं हुआ। यदि अपने आत्मस्वरूप में अपने साथ अभिन्न रूप में विश्व-दर्शन करते तो वह एक श्रेष्ठ अवस्था रूप में परिगणित होती।"

मैंने कहा—"भगवान् शङ्कराचार्य ने दश श्लोकों में जो विश्वदर्शन की बात कही है, वह आत्मदर्शन की ही एक अवस्था है।" वे कहते हैं— "दर्पण में जैसे नगरी, दर्पण के साथ अभिन्न भाव से दृष्टिगोचर होती है, वैसे प्रबुद्ध आत्मा के निज स्वरूप में स्वरूप के ही अन्तर्गत रूप में समग्र विश्व को देखा जाता है। मायावशत: लोग उसे बाह्य समझते हैं।"

भगवान् बोले—"यह बहुत ही सत्य है। दिव्यचक्षु पाकर भी माया-निवृत्ति न होने के कारण अर्जुन ने समग्र विश्व को अपने से पृथक् रूप में देखा था, अपने साथ अभिन्न रूप में नहीं।"

इस प्रकार अनेक बार नाना विषयों पर भगवान् के साथ मेरी तत्त्वालोचना चलती। उसका विस्तारित विवरण देना आवश्यक है। व्रजविदेही सन्तदास बाबाजी महाशय भगवान् से बहुत पहले से ही परिचित थे। कलकत्ता में रहते समय दोनों के बीच शास्त्रालोचना के सम्पर्क से घनिष्ठता भी खूब थी। कहना न होगा कि भगवान् ने तब भगवान् रूप में आत्मप्रकाश नहीं किया था, बाबाजी महाराज भी तब गृहस्थाश्रम में ताराकिशोरबाबू नाम से प्रसिद्ध थे।

भगवान् के सम्पर्क में आकर अनेक भक्तों के बीच दर्शनादि व्यापक भाव से कुछ दिनों तक चले। इस सम्बन्ध में कोई-कोई भक्त पूज्यपाद गुरुदेव के निकट उपस्थित होकर कभी-कभी उनसे मतामत की जिज्ञासा करते। तब वे इन सब लीलाओं के बहुत अनुकूल थे ऐसा नहीं समझते और कभी अपने आश्रित किसी-किसी शिष्य को इस विषय में कुछ उपदेश-वाणी प्रदान करते। वे कहते—"यह सब स्थायी नहीं होगा। समय आने पर तुम स्वयं ही समझ जाओगे।" वास्तविक पक्ष में था भी वही।

२

श्री श्री नागाबाबा

ख्रीष्टीय १९२३ साल में ग्रीष्मकाल में काशी के गङ्गातट घाट पर इन महापुरुष के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, ऐसा मेरा विश्वास है। यद्यपि ये हम सब के साथ हिन्दी भाषा में बातचीत करते, तथापि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी, यह ठीक समझा जा सकता था। इनकी निज मातृभाषा मराठी थी। इनकी अवस्था कितनी थी, मैं नहीं जानता, फिर भी स्थूल दृष्टि से ५० अथवा ५५ साल के प्रतीत होते थे। इनका मस्तक मुण्डित था और शरीर क्षीण होने पर भी सतेज और वलिष्ठ था। ये सदा दिगम्बर भाव से विचरण करते। इसीलिए साधारणतः सभी इन्हें नागाबाबा कहकर पुकारते। इनका मुख सर्वदा उज्ज्वल और हास्यमय दीख पड़ता—प्रतीत होता मानो शान्ति और आनन्द की आभा इनकी देह से चारों ओर विकीर्ण हो रही है। संस्कृत भाषा से इनका अच्छा परिचय था ऐसा लगता था, तथा ये अंग्रेजी भी जानते थे यह भी इनकी बातचीत से प्रतीत होता। ये हमेशा गङ्गा के घाट पर रहते, अन्यत्र कहीं नहीं जाते।

जब वैशाख-ज्येष्ठ मास के भीषण रौद्र में घाट के पत्थर उत्तप्त हो उठते, वहाँ साधारणतः किसी का पैर रखना कठिन होने पर भी बाबाजी उस स्थान का त्याग नहीं करते। उन्हें कोई परेशानी नहीं थी—वे इस भीषण तप्त पाषाण पर अनायास सो लेते, रात्रि-वेला में भी मुक्त आकाश के नीचे गङ्गा के तीर पर पड़े रहते। बाबाजी का और एक वैशिष्टय था कि वे दिन में और रात में कभी भी कुछ भोजन नहीं करते। अनेक लोगों ने पारो बाँधकर गुप्तभाव से यह परीक्षा करके देखा है। किसी ने कभी उन्हें किञ्चिन्मात्र भी खाद्य ग्रहण करते नहीं देखा है। वे स्वयं कहते, उनका वर्तमान स्थिति में आहार का प्रयोजन नहीं है।

गङ्गा जल में अवगाहन काल में कभी-कभी वे अपनी देह से अन्त्रादि बाहर करके धोते, इसे अनेक लोगों ने अपनी आँखों से देखा है। ये महापुरुष जिस प्रकार ज्ञानी, योगी और सिद्धात्मा थे, उसी प्रकार लौकिक व्यवहार में भी अत्यन्त निश्छल एवं सरल थे। वे कोई रहस्य गुप्त नहीं रखते थे—तत्त्व का विषय जिस प्रकार वे छिपाते नहीं थे, साधारण विषय भी उसी प्रकार स्वयं जो जानते उसे निःसङ्कोच अन्य के निकट प्रकाश करते और जिससे अन्य लोग उनके द्वारा लाभन्वित हो सकें इसके लिए वे चेष्टा करते। वे अपने निकट उपदेश के लिए समागत किसी को भी उपयुक्त उपदेश देने में कुण्ठित नहीं होते।

इसी समय काशी में एक विशिष्ट महात्मा रहते थे। उनका नाम था, वेणीमाधव मुखोपाध्याय। ये महात्मा पूर्णतया अन्ध थे और उनकी अवस्था ८० साल से अधिक थी। वे प्रथम यौवन से काशी में ही रह रहे थे—इसके बाद से काशीत्याग करके नहीं गये। उन्होंने एक सम्भ्रान्त परिवार में जन्म ग्रहण किया था और उच्चशिक्षा-प्राप्त थे। जितना मुझे ध्यान आता है, उनका जन्मस्थान हुगली के निकट किसी ग्राम में था। बाल्य अवस्था में चेचक से उनकी आँखें नष्ट हो गयी थीं। उसके बाद ही वे संसारत्याग करके काशी आ गये और श्री विश्वनाथ के चरणाश्रित होकर पड़े रहे। काशी में बंगालीटोला के अन्तर्गत पांडे हवेली मुहल्ले में वे रहते थे। आदि से अन्त तक उसी एक घर में ही वे रहे—यहाँ तक कि वे आकर पहले रहे, अन्त तक उस घर का त्याग नहीं किया। वे गली के छोटे छोटे बालक-बालिकाओं को अपने घर पर बैठाकर कुछ समय पढ़ाते। उससे ही उनके खाने-पहनने का खर्च चल जाता। इसीलिए काशी के जनसाधारण उन्हें 'अन्धा मास्टर' कहते। ये महात्मा आध्यात्मिक साधना के विषय में समधिक उन्नत अवस्था-लाभ कर चुके थे। उनकी अनुभूति के सम्बन्ध में, वर्तमान लेखक ने अनेक दिन चर्चा की है। इस प्रसङ्ग में उसका विवरण देना अनावश्यक है।

काशी के अनेक विज्ञ लोग उन्हें जीवन्मुक्त कहकर विश्वास करते। उनकी अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा भी बहुत कुछ इसी प्रकार की थी, ऐसा लगता। उनके शिष्यों में कोई-कोई योगमार्ग में उन्नति-लाभ कर चुके थे और कुछ विभूति भी अर्जित कर चुके थे।

एक दिन की बात ध्यान में आती है। हम सभी नागाबाबा को साथ लेकर सन्ध्या समय दरभङ्गा घाट के बुर्जे पर तत्त्व की आलोचना कर रहे थे। इसी समय देखा कि एक भक्त के साथ मास्टर महाशय इसी ओर आ रहे थे—भक्त उन्हें हाथ पकड़े ला रहा था। नागाबाबा ने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था और उनकी चर्चा भी नहीं सुनी थी। किन्तु देखा कि वे उन्हें देखते ही मस्तक अवनत करके तीक्ष्ण दृष्टि से उनकी आँख और मुख की ओर एकाग्रभाव से देखने लगे। मैंने उनसे ऐसा करने के कारण की जिज्ञासा की तो वे बोले, "आदमी ज्ञानी तो है, जीवन्मुक्त भी कहा जा सकता है, किन्तु अभी मातृऋण का शोध नहीं हुआ है।" इस बात का तात्पर्य क्या है, वह बाबाजी के उपदेश की आलोचना करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा।

नागाबाबाजी कहते, श्रवण के बिना मनन नहीं होता। इस प्रकार नाम लेना उचित है जिससे स्वयं का उच्चारित नाम स्वयं सुना जा सकता है। मन-ही-मन नाम लेने पर भी मन-ही-मन उसका सुनना आवश्यक है। यह अभ्यास कर पाने पर सहज ही मनन वा स्मृति उदित होती है। श्रुति ठीक-ठीक न होने पर स्मृति उत्पन्न नहीं हो पाती। किन्तु नाद के बिना श्रुति भी किस प्रकार होगी? स्मृति से धृति वा निदिध्यासन स्वयं ही आता है। इसके बाद दर्शन या साक्षात्कार होता है।

नाम-योग से देहशुद्धि स्वयं ही होती है, क्योंकि, कुण्डलिनी के चैतन्य से देहशुद्धि का अभाव नहीं होता।

रस द्वारा देह-शोधन करना अत्यन्त कठिन है। बाबाजी कहते, देहशुद्धि करने में उन्हें प्रायः साढ़े तीन साल लग चुके। देहशुद्धि हुए

विना देह को मुक्त नहीं किया जा सकता। जीवन्मुक्त अवस्था तो हो सकती है, किन्तु परब्रह्मलाभ नहीं होता। अर्थात् मातृऋण-शोध नहीं होता, मायापाश छिन्न नहीं होता एवं पञ्चतत्त्व का स्वाभाविक आकर्षण अटूट बना रहता है, इस कारण सोहं भाव नहीं जागता। ऐसा अनेक वार देखा जाता है कि किसी-किसी का आत्मा ब्रह्मलोक-पर्यन्त चला जाता है (अवश्य मनन के फलस्वरूप), किन्तु देह अशुद्ध होने से वह ऊपर उठ नहीं पाता, वह भूलोक में ही पहुँच जाता है। इसीलिए देह को भी साथ लेना आवश्यक है। यही देहशुद्धि है। देहशुद्धि न होने पर विज्ञान से पुनः अज्ञान में तथा अद्वैत से पुनः द्वैत में पड़ जा सकते हैं। बहुत लोग इस हेतु अद्वैत में ही अटके रह जाते हैं, उनके द्वारा परोपकार नहीं होता। देह शुद्ध होने पर अविनाशी होता है। जलन्धरनाथ ऐसे ही 'अविनाशी' थे, किन्तु गोरक्षनाथ महासिद्ध थे, अविनाशी नहीं थे। देह-शुद्धि अर्थात् देह का शून्यमय हो जाना। कंठ से लेकर समस्त निम्नभाग शून्य हो जाता है—उपरिभाग चैतन्य रहता है। पञ्चतत्त्व-शून्य होना ही देहशून्य होना है। देहशुद्धि हुए विना परब्रह्म तक स्थिति नहीं होती, ब्रह्मलोक में ही अवसान होता है। यह जीवन्मुक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

रस के द्वारा देह शुद्ध होता है। जिह्वा रसनेन्द्रिय है, इसे नियम के अनुसार २१ दिन या २८ दिन या किसी निर्दिष्ट काल तक एक विशिष्ट एकमात्र रस का आस्वादन कराना आवश्यक है। जब एक रस का आस्वादन चलता है तब भ्रम से भी अन्य रस का आस्वादन नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार क्रमशः सभी रसों का आस्वादन करना चाहिए। सबका अन्तिम कार्य रसास्वादन नहीं, किन्तु विष-भक्षण है। विष ही अमृत है, क्योंकि वह अग्निस्वरूप है। यह अमृत पान करके देह अमर हो जाता है। विषपायी शिव मृत्युञ्जय हैं यह सबका परिचित सत्य है। भिन्न-भिन्न रस के आस्वादन-काल में शरीर की त्वक् या बाहर की खाल क्रमशः हट जाती है। सर्वथा ११ कवच या खाल देह से पृथक् हो जाते हैं। तब शरीर अकस्मात् नवीन होकर प्रकाशित होता है। पूर्व का

उपादान और कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्था में नाम ही प्रधान अवलम्बन है। जब सन्निपात होता है तब नाम को पकड़ न रखने पर देहपात अवश्यम्भावी है।

देहशुद्धि का लक्षण—मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर हाथ रखने पर वायु की सत्ता जानी जा सकती है। हमारे हाथ का तलभाग सूर्य है, पश्चात् भाग पृथ्वी। इस सूर्य को यह वायुसेवन कराना आवश्यक है।

अन्तर शुद्ध न होने पर भीतर-भीतर जप या अन्तर्जप नहीं होता। सुतरां प्रथमतः अन्तर में जप असम्भव है।

कुण्डलिनी के न जागने पर अजपा जप किस प्रकार हो सकता है? तालुमूल (कण्ठ) से नाभि-पर्यन्त एक फोकस की क्रिया होती है। एक बार आकुञ्चन या Focusing होता है फिर प्रसारण या defusion चलता है, इसी प्रकार हमेशा वोध होता है। ब्रह्मबिन्दु ऊपर से तालुमूल में क्षरित होता है। फलस्वरूप होता है सङ्कोच। फिर नाभि की क्रिया में विकास होता है। इसका ही नाम अजपा है।

पहले मणिकर्णिका में चक्रतीर्थ में स्नान करना होता है। यह मणिपूरचक्र का व्यापार है। यहाँ कुण्डलिनी का स्थान है।

गणेश का हस्तिमुण्ड ॐकार का प्रतीक है। वह माङ्गलिक है। सृष्टि स्त्रीलिङ्ग है, वह पृथ्वीरूप है। ब्रह्माण्ड का एक देश सृष्टि है। सृष्टि के बाहर भी ब्रह्माण्ड है। रजः सृष्टिरूपी स्त्रीलिङ्ग है। सत्त्व—बालरूप नपुंसकलिङ्ग है। तमः—पुल्लिङ्ग। अष्टधातु से सृष्टि होती है—इसीलिए आठ दिक् और आठ दिक्पाल हैं। रजोगुण—क्रिया है, यही सृष्टि है। समस्त ब्रह्माण्ड में निष्क्रिया नहीं होती—एक देश में मात्र होती है। निष्क्रिय अवस्थावाली सृष्टि का प्रवर्तक मानुष है। रजोगुण पहले विन्दुरूप होता है, यही सूर्य है। आकाश में पहले नक्षत्र हैं, उसके ऊपर चन्द्र, उसके ऊपर सूर्य। नक्षत्र सब मुक्त आत्मा हैं, ज्योति रूप हैं, ये जीवन्मुक्त पुरुष हैं। नक्षत्र गिर पड़ता है

अर्थात् आत्मा पृथ्वी पर पतित होता है। गिरने के समय सूक्ष्म वायु स्तर पर्यन्त ज्योति-रेखा चलती जाती है, बाद में स्थूल पार्थिव वायुमण्डल में आकर अन्धकार में मिल जाती है।

रात में अधिकांश मनुष्य निद्रित हो जाते हैं—उनका तेजः नक्षत्र-मण्डल में चला जाता है और नक्षत्र के साथ बातचीत करता है। यही स्वप्नावस्था है। इसी कारण रात में नक्षत्र इतने उज्ज्वल दीख पड़ते हैं—तेज, तेज में मिल जाता है। रात के बारह बजे के बाद प्रायः कोई नहीं जागता, इसीलिए तब नक्षत्र अधिक उज्ज्वल दीखते हैं। मनुष्य जाग उठने पर अपनी-अपनी ज्योति या प्राण आकर्षण कर लेता है, तब नक्षत्र म्लान हो जाते हैं। एक आत्मा का ही मुक्तबिन्दु ऊपर तारारूप में और बद्धबिन्दु नीचे नाना प्रकार के बद्धजीव रूप में विभिन्न योनियों में क्रीड़ा करता है।

तारे यदि सूर्य के ऊपर होते तब सूर्य-किरण में दिन में भी देखे जाते। वस्तुतः सूर्य-किरणें ही अभिभूत हो जातीं। चन्द्र के साथ उनका सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। समाधि अवस्था में अथवा सदेह मुक्ति में नक्षत्र में पहुँच-कर सब कुछ जानकर आ जाते हैं। अपनी ज्योति, नक्षत्र की ज्योति में मिलाने पर सब प्रत्यक्ष देखा जाता है।

प्रदक्षिणा या परिक्रमा बहुत सहज में ही उठने का उपाय है। भूमि-तल में कुछ व्यापक स्थान लेकर मण्डल की कल्पना करनी होती है और उसकी प्रदक्षिणा करनी होती है। यह अखण्ड भाव से होना चाहिए। पहले-पहले कुछ क्षण घूमने पर ही माथा घूमने लगेगा, तब बैठ जाना होगा। उसके बाद विश्राम करके फिर घूमना आरम्भ करेगा। बाद में फिर बैठेगा, उसके बाद फिर बैठेगा, उसके बाद फिर घूमेगा। जब तक रस शुष्क नहीं होगा तब तक माथा घूमेगा। इसीलिए इस अवस्था में बीच-बीच में बैठकर विश्राम करना आवश्यक है। बाद में दीर्घ और अखण्ड अभ्यास से प्रदक्षिणा के फलस्वरूप देहस्थ रस शुष्क हो जायगा। तब फिर माथा नहीं घूमेगा। अति गभीर प्रशान्ति अनुभव होगी—ब्रह्मरन्ध्र

में 'तालाब' अथवा जलपूर्ण सरोवर का दर्शन होगा। तब समस्त देह मनस्निग्ध हो जायगा। वही अनन्त समुद्र है। तृतीय नेत्र के सम्मुख वह सदा ही प्रकाशमान रहेगा। बाहर की बातचीत और व्यवहार के बीच भी वह समभाव से सर्वदा दृश्यमान होगा। उसमें कोई तरंग नहीं। जब कुछ देखने की इच्छा होगी तत्क्षण वह उसमें दृष्ट होगा। बाद में वह फिर पूर्ववत् निस्तरंग भाव धारण कर लेगा। यह शेष अवस्था है। इसे ही परब्रह्म कहते हैं।

ध्यान करना ठीक नहीं। कारण कि ध्यान का आश्रय करने पर ध्यानातीत होना कठिन होता है। समस्त चेष्टा से केवल कुण्डलिनी को चैतन्य करने का प्रयोग करना उचित है। कुण्डलिनी जागने पर ध्यान स्वयं ही आयेगा और यथा समय वह स्वयं समाप्त हो जायगा।

विन्दु-भेद करना होगा ठीक सीधे-सीधे मध्य-पथ में। विन्दु के इस पार और चारों ओर मृत्युलोक है, उस पार शून्य है। उस पार ही नाना प्रकार का दर्शन होता है।

●

३

श्यामदास बाबाजी

२२ वर्ष पूर्व की बात कहता हूँ। मैं तब श्री श्रीजगन्नाथ क्षेत्र में अर्थात् श्री पुरीधाम में अवस्थान कर रहा था। तब ग्रीष्मकाल था। मैं प्रतिदिन अपराह्न में कभी-कभी समुद्र के तीर पर, कभी-कभी नरेन्द्र सरोवर के तट पर स्थित जटियाबाबा के समाधि-मन्दिर की ओर, कभी लोकनाथ महादेव को ओर, कभी अन्य ओर भ्रमण के लिए बाहर जाता। एक दिन पूर्वोक्त समाधि-मन्दिर में मेरे विशिष्ट बन्धु श्री माखन गांगुली के साथ आध्यात्मिक विषय में आलोचना हुई। श्री माखनबाबू शिक्षित, विनयी, धर्मप्राण एवं अतिशय अनुभवी पुरुष थे। वे श्री विजय-कृष्ण गोस्वामी महोदय के मन्त्रशिष्य थे। उनके साथ स्थानीय साधु-महात्माओं के प्रसंग में आलोचना हुई तब उन्होंने दिगम्बरबाबा नाम से प्रसिद्ध एक नग्नकाय वेदान्ती साधु तथा श्यामदास बाबाजी के नाम से एक वैष्णव साधु की चर्चा मुझसे की। दिगम्बरबाबा टोटा गोपीनाथ की ओर रहते थे। उसके बाद वे श्री काशीधाम में आकर दीर्घकाल-पर्यन्त गङ्गा के उस पार नौका पर रहा करते थे। उनका विशाल जटाजूट एवं सौम्य शान्त आकृति देखने पर उन्हें तीव्र वैराग्य-सम्पन्न एक उदासी महापुरुष समझा जा सकता था। श्यामदास बाबाजी गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे एवं निकट में ही अवस्थान करते थे। क्योंकि नरेन्द्र सरोवर के जिस पार जटियाबाबा का समाधि-मन्दिर था उसके उस पार ही जो प्रसिद्ध ऐतिहासिक बगीचा श्रीमन्महाप्रभु के समय से प्रसिद्ध है, उसी के प्रान्तदेश में बाबाजी महाराज वास करते थे। वे प्रभुपाद जगद्बन्धु के परमभक्त थे अतः उनके आवास स्थान को 'बन्धु आश्रम' कहकर उल्लेख करते थे। दिगम्बरबाबा के दर्शन करने का अवसर श्री पुरीधाम में रहते समय मुझे नहीं प्राप्त हुआ। कुछेक वर्ष बाद श्री काशी में मुझे वह

अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु वर्तमान प्रसङ्ग में उसकी आलोचना करना अनावश्यक है।

इसके बाद मैं एक दिन निश्चित करके माखनबाबू के साथ बाबाजी महाशय के दर्शन के लिए 'बन्धु आश्रम' में गया। तब अपराह्न-काल था। मेरे साथ माखनबाबू के साथ और एक व्यक्ति था। वह एक अल्प-वयस्क बालक था। बाबाजी हमसे मिले, अत्यन्त समादर के साथ सम्भाषण और अभ्यर्थना की। तब उनके महाप्रसाद-ग्रहण का समय था। उनके अनिर्वन्ध अनुरोध से हमलोगों ने थोड़ा-थोड़ा महाप्रसाद ग्रहण किया। हमने महाप्रसाद-ग्रहण के पश्चात् एक एकान्त स्थान पर बैठकर बाबाजी महाशय के साथ आलोचना शुरू की। वे पहले स्वर्गद्वार में हरिदास मठ में थे। उनके पूर्वजीवन का इतिहास अतिअद्भुत है। प्रथम यौवन में वे कुछ दिन काशी में रह चुके थे—तब महायोगी तैलङ्ग स्वामी ने देहत्याग नहीं किया था। सुदीर्घ काल तक श्रीवृन्दावन में कुसुम सरोवर के निकट उन्होंने वास किया था। प्रभु जगद्वन्धु के संग के प्रभाव ने उनके जीवन में अनेक परिवर्तन ला दिया था। उन्होंने अपने साधन-जगत् के अनेक गम्भीर रहस्य कथा के बहाने प्रकाश किये। तैलङ्ग स्वामी ने जब उनके माथे पर हाथ रखकर शक्ति का सञ्चार किया उस समय उन्हें जो दिव्य अनुभूति-लाभ हुई, उसकी विस्तृत वर्णना करके अपने धर्म जीवन के साथ इस अनुभूति का क्या सम्बन्ध है, उसे समझाया। वर्तमान समय में श्री श्रीमाँ आनन्दमयी का प्रभाव वे मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते।

श्यामदास बाबाजी वयस में बहुत ही वृद्ध थे—इस समय उनका वयस् ८४ वर्ष के निकटवर्ती था, ऐसा मन में होता है। उनका शरीर पुष्ट, वर्ण श्याम एवं मुखकान्ति में प्रसन्नता और वैष्णवोचित विनय प्रकाशित होता। उनकी प्रकृति इतनी मधुर थी कि किसी के दुर्व्यवहार करने पर भी उसके साथ रूढ़ आचरण नहीं कर पाते। वे वैष्णव एवं बाबाजी के रूप में परिचित होने पर भी साधारण वैष्णव की भाँति नहीं थे। एक

ओर तैलङ्ग स्वामी और दूसरी ओर जगद्वन्धु, इन दोनों को ही वे गुरु कहकर मानते थे। केवल वही नहीं, बारदी के सिद्धयोगी लोकनाथ ब्रह्मचारी के सम्वन्ध में भी उनकी उच्च धारणा थी। उक्त ब्रह्मचारी के शिष्य ब्रह्मानन्द भारती का संग-लाभ द्वितीय बार काशी में अवस्थान काल में अनेक दिनों तक उन्हें हुआ था। ज्ञान, भक्ति, योग–किसी को वे निकृष्ट कहकर नहीं मानते थे।

मेरे उनकी आध्यात्मिक परिस्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर वे किसी प्रकार आडम्बर न करके सरलभाव से मुझसे बोले कि उनका 'स्वभाव' जाग चुका है—वे एक ऐसी अवस्था में आकर पहुँच गये हैं जहाँ से वे सर्वदा द्रष्टा भाव से अपने स्वभाव का खेल देख पाते हैं। इसे देखने के साथ सुख-दुःख का कोई भाव जड़ित नहीं रहता है। एक शान्त, आनन्द-मय निर्लिप्त भाव वे सर्वदा ही अनुभव करते। उन्होंने अपने धर्म-जीवन की अनेक गुह्य अनुभूतियाँ स्वतः प्रेरित होकर मेरे निकट कथा-प्रसंग से प्रकाशित कीं। उससे स्पष्ट समझ सकते हैं, वे इस समय किस प्रकार की स्थिति में पहुँचे थे। पहले जिस स्वभाव की बात कही है वह उनके अनुसार चिदाकाश का ही नामान्तर है। वे आन्तर दृष्टि के सम्मुख सर्वदा ही एक नीलवर्ण मण्डलाकार आकाश के सदृश सत्ता देख पाते थे। किन्तु बाह्य-भाव से लिप्त होने पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ क्षण बाद ही बाह्यभाव का प्रावल्य समाप्त करने के साथ-साथ फिर वह पूर्ववत् दृष्टिगोचर होता। पक्षान्तर में वे यही लक्ष्य करते थे कि इस आकाश में अन्तर्दृष्टि निवद्ध रहने पर बाह्यभाव में जड़ित होने की सम्भावना नहीं रहती।

आकाश में क्या देखा जाता है? इसके उत्तर में वे कहते कि इस आकाश के मन-प्रभृति अपनी प्रकृति के सब खेल वे देख पाते हैं। किन्तु यह दर्शन विविक्त वा तटस्थ दर्शन है अतः वे द्रष्टा को रञ्जित करके भोक्ता के रूप में परिणत नहीं कर पाते। वे कहते कि उनका आत्मदर्शन हुआ है। जगत् की सभी वस्तुओं के बीच ही वे स्वभाव को स्पष्ट देख पाते हैं। वे साकार के बीच निराकार आकाश को देखते हैं, फिर इस निराकार

आकाश के बीच सभी खेल देखते हैं। अथच देखने से किसी प्रकार के मोह का संश्रव नहीं था। बीच-बीच में चित्त में जिस लिप्तता का आभास आता उसे पूर्वसंस्कार का अभिनय समझते थे। वे कहते कि इस संस्कार के शोधित होने पर आभास और नहीं रहेगा। प्राक्तन असंस्कृत प्रकृति (Originerate Nature) मात्र अवशिष्ट रह गयी है। बाबाजी महाशय अत्यन्त निर्जनता-प्रिय थे। बहुत लोग उन्हें जानते थे, किन्तु अनेक लोग ठीक-ठीक पहचान नहीं पाते थे। मुझे एक मास से अधिक काल तक उनके संग-सुख के अनुभव का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सुना था कि मेरे काशी लौट आने के कुछ दिन बाद ही उन्होंने नरदेह का त्याग कर दिया था। उनकी अनेक बातें मुझे अच्छी लगी थीं। यहाँ उन्हें संक्षिप्त रूप से प्रकाशित करता हूँ :

नाम कितना दूर जाता है ? वैकुण्ठ-पर्यन्त नामरूप है। उसके बाद नाम नहीं है। पागल हरनाथ कहते थे कि—"जिस श्रीकृष्ण का नाम लेकर पुकारा जाता है उस श्रीकृष्ण से क्या होगा ? चाहिए निकुञ्ज-विहारी कृष्ण—जहाँ शब्द नहीं जाता। वह उनकी कृपा के बिना नहीं होता।"

भक्त के बीच से होकर उनके उपास्य महापुरुष की भक्ति करना बड़ा चमत्कार है। माखनबाबू, गोसाईं को (गुरु को) प्रेम करते थे, उनके द्वारा गोसाईं को देखने पर विशेष आनन्द पाया जाता है।

जिस आकाश को मैं देख पाता हूँ वह मेरी प्रकृति—चिदाकाश है। मैं निराकार, द्रष्टा, निर्लिप्त हूँ। मेरी प्रकृति कार्य करती है, मैं मात्र देखता हूँ। यही विवेक है। विवेक छोड़ देने पर आकाश नहीं दिखता। तब मैं कर्ता मान बैठता हूँ, लिप्त होता हूँ। तब इस आकाश से नीचे आ जाता हूँ।

इस आकाश में शब्द है—उसके बाद एक छाया भासित होती है, वही सृष्टि है। छाया क्रमशः घनीभूत होती है, यही प्रत्यक्ष दर्शन है।

तैलंग स्वामी ने मेरे माथे पर हाथ रखा था। ५/७ दिनों तक बिन्दु-रूप था—तीनों कालों को एक साथ देखता था।

पहले स्वयं अपने पर कृपा करो।
गुरु तीन बार बुलाते हैं––उसके बाद छोड़ देते हैं।
अनुकूल प्रकृति चाहिए, कार्य की योग्यता लेकर महापुरुषगण आते हैं।
मेरा जो कुछ हुआ, संग से हुआ।
मन अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह होने पर ग्रन्थियाँ खुलती हैं।

४

योगत्रयानन्दजी

आज जिनके विषय में कहता हूँ उन्हें बंगाल के अनेक विशिष्ट मनीषी विशेष रूप से जानते हैं और श्रद्धा करते हैं और बहुतों ने तो उनका नाम तक भी नहीं सुना है। मैं एक समय अतिअद्‌भुत रूप से इन महापुरुष के सम्पर्क में आया। किस प्रकार आया, उसका एक संक्षिप्त वृत्तान्त दिये बिना कथा असम्पूर्ण रहेगी, अत: इन महापुरुष के साथ अपने प्रथम परिचय का पूर्वइतिहास कहने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

प्राय: ५९ वर्ष पूर्व अर्थात् जब मैं हाई स्कूल में इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हुआ था, उसी समय एक अद्‌भुत पुस्तक मुझे देखने में आयी। मेरे गाँव के निवासी एक शिक्षित भद्रपुरुष के अकाल ही दिवंगत हो जाने पर उनके ग्रन्थालय में सञ्चित पुस्तक-राशि को उनके परिवारवालों ने बेचने का संकल्प किया। उन भद्र महापुरुष की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, इसी कारण उनके परिवारवालों की इस प्रकार की चेष्टा प्रशंसनीय न होने पर भी क्षमार्ह मानी जा सकती है। उन भद्र पुरुष के घर में कुछ संस्कृत की और कुछ बंगला की पुस्तकें सुरक्षित थीं। सभी पुस्तकें या तो आध्यात्मिक विषय की थीं अथवा धार्मिक विषय की। इन पुस्तकों में प्रसिद्ध साधु-महापुरुषों का कुछ जीवन-वृत्तान्त-संग्रह भी था। कहना न होगा, कि मैंने इन सञ्चित पुस्तकों में से अनेक को थोड़े ही मूल्य में खरीद लिया। मेरी खरीदी पुस्तकों में 'आर्यशास्त्र प्रदीप' नाम की एक पुस्तक के प्रथम दो खण्ड विद्यमान थे। अन्यान्य पुस्तकें पढ़ने के पश्चात् जब मैं इस पुस्तक की आलोचना करने लगा तब मेरे मन में जिस अपूर्व भाव का उदय हुआ, इस दीर्घकाल के बाद उसका सम्यक् प्रकार से वर्णन करना सम्भव नहीं। यद्यपि पुस्तक के प्रथम और द्वितीय खण्ड हमारे निकट थे, तथापि वह असम्पूर्ण थी एवं मन में हुआ

कि तृतीय खण्ड में भी वह पूरी नहीं है। वस्तुतः ये खण्ड प्रकृत पुस्तक नहीं, उसकी भूमिका मात्र थे। प्रकृत पुस्तक लिखी गयी थी कि नहीं, इसे पता लगा पाने का कोई उपाय नहीं था। इस भूमिका में—जो प्रायः सैकड़ों पृष्ठों में है—इस प्रकार असाधारण पाण्डित्य और बहुदर्शिता का निदर्शन था जिसे देखकर तत्काल मेरा मन स्तब्ध हो उठा और नीरव भाव से महाज्ञानी ऋषिकल्प ग्रन्थकार के चरण में पुनः-पुनः प्रणति निवेदित की। प्राच्य एवं पाश्चात्य, प्राचीन एवं नवीन दर्शन, विज्ञान प्रभृति सभी शास्त्रों के ही पूर्ण ज्ञान का परिचय इस ग्रन्थ के बीच प्राप्त होने से मेरी एकान्त इच्छा हुई कि उनके दर्शन करूँगा और उनके चरण में रहकर ज्ञान का अनुशीलन करूँगा। ग्रन्थ के अध्ययन से मन में हुआ कि ग्रन्थकार कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग प्रभृति सभी मार्गों में समान रूप से अधिकारी हैं। वे ऋषिकल्प हैं और वर्तमान अंग्रेजी शिक्षित और विज्ञान मदगर्वित शिक्षित-समाज के गुरुस्वरूप हैं।

किन्तु दुःख का विषय है कि बहुत अनुसन्धान करके भी ग्रन्थकार का कोई पता नहीं पा सका, क्योंकि ग्रन्थ में सब कुछ था, केवल ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं था। प्रकाशक का नाम था, मुद्रणयन्त्र का नाम था, मुद्रण-समय का उल्लेख था, किन्तु ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं इसका कोई निर्देश नहीं था। इस प्रकार के अपरूप ग्रन्थ के रचयिता क्यों इस प्रकार आत्मगोपन करेंगे, यह समझ नहीं पाता था। जो भी हो, प्रत्यक्ष भाव से रचयिता को जान न पाने पर भी परोक्षभाव से मैंने उनके निकट भूयोभूयः श्रद्धा-समर्पण किया। बहुत दिनों तक बहुत प्रकार से इस ग्रन्थ का अनुशीलन किया एवं अपने परिचित ज्ञानवृद्ध अनेक शिक्षित व्यक्तियों को आर्यशास्त्र प्रदीप के रचयिता का सन्धान करने के लिए अनुरोध किया। किन्तु जब देखा कि कोई कुछ भी नहीं कर पाता है, तो स्वभावतः ही इस व्यर्थ अनुसन्धान की चेष्टा से विरत हो गया। यह १९०४–१९०५ सन् की बात है।

इसके बाद प्रायः दो-तीन वर्ष बीत गये। मैं तब राजस्थान के अन्तर्गत जयपुर नगर के महाराजा कालेज में अध्ययन करता था। तब

महाराजा के प्रधानमन्त्री रायबहादुर संसारचन्द्र सेन के मकान में मैं रहता था। हमारे अंग्रेजी के अध्यापक थे नवकृष्ण राय। ये एक ओर पण्डित शशधर तर्क चूड़ामणि महाशय के शिष्य एवं निष्ठावान् आनुष्ठानिक हिन्दू थे तो दूसरी ओर कूच विहार विक्टोरिया कालेज के अध्यक्ष, परलोकगत सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य व्रजेन्द्रनाथ शील महाशय के प्रिय शिष्य थे। अवश्य व्रजेन्द्रबाबू जब बहरामपुर कालेज के अध्यक्ष थे, उसी समय नवबाबू को उनके निकट अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। नवबाबू मुझ पर विशेष स्नेह रखते एवं मैं अनेक बार उनके घर जाकर उनके साथ साहित्य और शास्त्रादि के विषय में आलोचना करता। एक दिन कथा-प्रसंग में मैंने उनसे आर्यशास्त्र प्रदीप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की एवं मेरे पास इस पुस्तक का जो अंश विद्यमान था उसे उन्हें पढ़ने के लिए दिया। ग्रन्थ को कुछ दूर तक पढ़कर कुछ दिनों के बाद उन्होंने मुझसे कहा—"ग्रन्थकार को तो मैं नहीं जानता, किन्तु ग्रन्थ पढ़कर लगता है कि ये मेरे गुरुदेव शशधर तर्क चूड़ामणि महाशय से किसी-न-किसी सूत्र से सम्बद्ध होंगे।"

इसके अतिरिक्त वे कोई विशेष पता नहीं दे सके।

इसके कुछ दिन बाद मैं एक दिन जयपुर स्टेट के एकाउण्टेण्ट जनरल सत्येन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के साथ प्रसंगतः कर्मवाद के सम्बन्ध में आलोचना करने लगा। सत्येन्द्रबाबू हमारे निवास के समीप ही एक पृथक् बँगले में रहते थे। वे बाल-ब्रह्मचारी एवं प्रकाण्ड धर्मनिष्ठ थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता प्रेमानन्द भारती नाम से अमेरिका में प्रसिद्धि-लाभ कर चुके थे। प्रेमानन्द भारती अमेरिका में रहते समय 'लाइट ऑफ़ इण्डिया' नामक एक पत्रिका का सम्पादन करते थे। उन्होंने 'श्रीकृष्ण' नाम से एक उत्कृष्ट अंग्रेजी ग्रन्थ की रचना की। उनके गुरु ब्रह्मानन्द भारती बारदी के स्वनामख्यात लोकनाथ ब्रह्मचारी के शिष्य थे।

कर्मतत्त्व के सम्बन्ध में सत्येनबाबू के साथ आलोचना होती थी। उन्होंने आलोचना के आरम्भ में कर्म और कर्म-विनाश के विषय में एक

सुन्दर व्याख्यान दिया। उनके इस व्याख्यान ने मुझे तीव्र भाव से आकृष्ट किया। इस प्रकार सुयुक्तिपूर्ण व्याख्यान वे किस शास्त्र के ऊपर निर्भर करके दे सके, इसे जानने के लिए मैंने अत्यन्त औत्सुक्य प्रकट किया। तब उन्होंने कहा—"यह व्याख्यान अपना नहीं है। मैंने इसे किसी महापुरुष के निकट से सुना है। वह महापुरुष अत्यन्त गोपन में रहते हैं और साधारणत: आत्मप्रकाश नहीं करते हैं। स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ), स्वामी अभेदानन्द (काली), मेरे दादा प्रेमानन्द प्रभृति अनेक लोग एक समय उनके निकट गये थे। तब वे बराहनगर अथवा बाली की ओर रहते थे। अब की खबर मैं नहीं जानता। आदमी बड़े असाधारण हैं।" सत्येन्द्रबाबू से इस प्रकार का वर्णन सुनकर मैंने उनसे जिज्ञासा की कि वे उनका नाम जानते हैं कि नहीं एवं उनके रचित ग्रन्थादि के बारे में जानते हैं कि नहीं। सत्येनबाबू ने कहा, उनका नाम शशिभूषण सान्याल है और उनके रचित बहुत ग्रन्थों में 'आर्यशास्त्र प्रदीप' ही प्रधान है।

उनके मुख से आर्यशास्त्र प्रदीप की बात और उस ग्रन्थ के रचयिता का नाम सुनकर मैंने मानो स्वर्ग पा लिया। बहुत दिनों तक इस नाम को जानने के लिए मैं चेष्टा करता रहा, किन्तु इतने दिनों तक कोई पता नहीं पा सका। आज जान सका। तो अब वे हैं कि नहीं, होने पर कहाँ हैं, इसका पता वे नहीं दे सके। जो भी हो, नाम जानने के फलस्वरूप भावी अनुसन्धान का पथ बहुत कुछ सरल हो गया।

चार वर्ष जयपुर-वास के पश्चात् मैं एम० ए० पढ़ने के लिए काशी में आया। यह १९१० साल की बात है। काशी में आकर क्वींस कालेज में एम० ए० क्लास में भर्ती हुआ। तब क्वींस कालेज के तत्कालीन अध्यापक हरिकेशव सान्याल महाशय के भतीजे श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल मेरे विशेष परिचित थे। स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से हमारा परस्पर परिचय हुआ। अनेक बार हम देश के उज्ज्वल भविष्यत् की चिन्ता करते एवं परस्पर आलोचना करते और धर्म की भित्ति पर ही उस उज्ज्वल भविष्यत् की प्रतिष्ठा सम्भव है, यही हमारी धारणा थी। शचीन्द्रनाथ

मुझसे अवस्था में छोटे होने पर भी उद्यमशीलता एवं स्वदेशानुराग के जीवन्त प्रतीक स्वरूप थे। उनके 'बन्दी जीवन' प्रभृति को जिन्होंने पढ़ा है वे उन्हें जानते हैं। भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के इतिहास में इन शचीन्द्रनाथ का नाम स्वर्ण-अक्षर में ग्रथित होगा; किन्तु उनके भविष्यत् अद्‌भुत संकटमय जीवन की पूर्वसूचना तब भी नहीं थी। शचीन्द्रनाथ सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में इण्टरमीडियेट क्लास में अध्ययन कर रहे थे।

एक दिन सन्ध्यावेला मैं गंगा तीर पर, दशाश्वमेध घाट पर अन्यान्य बंधुवर्ग के साथ बैठा आलाप कर रहा था, तभी हठात् शचीन्द्रनाथ ने मुझसे कहा, काशी में एक असाधारण महापुरुष हैं, बहुत देशों से लोग उनके दर्शन के लिए आते हैं। इनका दर्शन प्राप्त करना अति कठिन है। साधारणतः अनेक लोगों को लौट जाना पड़ता है। चलें, एक दिन हम उनके दर्शन कर आयें। मैंने जिज्ञासा की—"उनका दर्शन करना इतना कठिन है तो उनके निकट हम जैसे दो विद्यार्थियों का उपस्थित होना किस प्रकार सम्भव होगा?" शचीन्द्र बोले, "उन महापुरुष के कनिष्ठ पुत्र मेरे सहपाठी हैं। मेरे कहने पर ही वे हमें दर्शन का सुयोग करा देंगे। साधारण उपाय से उनका दर्शन करना सहज नहीं।

मैं कुछ इतस्ततः करने लगा। सोचता रहा, यदि दर्शन करने जाकर वापस लौट आते हैं तो वह अत्यन्त दुःख का कारण होगा। फिर दर्शन करके क्या लाभ होगा? ऐसा प्रश्न मन में उदित हुआ। शचीन्द्र से जिज्ञासा की—"महापुरुष का नाम क्या तुम जानते हो? वे अभी कहाँ हैं?" उत्तर मिला—"उनका निवास सोनारपुरा मुहल्ला में है। उनका नाम श्री शशिभूषण सान्याल है। मेरे सहपाठी का नाम श्री इन्दुभूषण सान्याल है।" शशिभूषण सान्याल नाम सुनते ही मेरी पूर्वस्मृति जाग उठी। मेरे मन में हुआ, सम्भवतः ये ही आर्यशास्त्र प्रदीप के प्रणेता शशिभूषण सान्याल होंगे। आर्यशास्त्र प्रदीप के सम्बन्ध में शचीन से जिज्ञासा करने पर वह कुछ भी नहीं कह सके। वह केवल बोले, "मैं जानता हूँ, वे महा-

पुरुष और महापण्डित हैं। कोई पुस्तक लिखी है कि नहीं, उसे मैं नहीं जानता।" जो हो, मेरे मन का सङ्कोच भाव कट गया। मैंने मन ही मन निश्चय किया, देखना होगा ही। इसके पश्चात् शचीन्द्रनाथ ने इन्दुभूषण के साथ परामर्श करके सान्याल महाशय के निकट जाने के लिए एक दिन निर्दिष्ट किया। उस दिन दो बजे के समय मैं और शचीन्द्र दोनों दर्शन करने जायँगे, यह तय हुआ। इन्दुभूषण से विदित हुआ कि हम जाकर आधा घण्टा से एक घण्टा तक वहाँ बैठ सकेंगे, इस प्रकार व्यवस्था की गयी है।

जिस दिन पूजनीय सान्याल महाशय को देखने का निश्चय हुआ उसी दिन यथासमय मैं और शचीन एक साथ मिलकर शचीन के निर्देशानुसार सोनारपुरा के निवास पर दो बजे के प्रायः दस मिनट पहले ही उपस्थित हुए। उस घर में जाकर अनुभव किया कि चारों ओर के वातावरण के बीच एक असाधारण पवित्रता और स्निग्धता मानो क्रीड़ा कर रही थी। चारों ओर का निस्तब्ध एवं नीरव भाव उस शान्त वातावरण को और भी मानो गम्भीर बनाये हुए था। हम उस घर में उपस्थित होकर दर्शनार्थियों के लिए निर्दिष्ट स्थान पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच कुछ क्षण के बाद ही इन्दुभूषण, हम आए हैं कि नहीं, खबर लेने के लिए नीचे आ गये। तब प्रायः दो बज चुके थे। इन्दुभूषण ने हम दोनों को ही इंगित किया कि बिलम्ब न करके हम उनका अनुगमन करें। कारण, उनके पूजनीय पितृदेव हमारे लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। तब हम भी तेज हुए और एकतल्ला से धीरे-धीरे सीढ़ी पारकर दोतल्ले पर पहुँच गये। देखा, उस दोतल्ले पर ही उनके पितृदेव के रहने का स्थान है।

एक बड़ा हॉल, उसके बगल में ही घर है और सामने एक बड़ा बरामदा। उस हॉल के चारों ओर स्तूपीकृत पुस्तकराशि। पुस्तकें अति सुन्दर भाव से स्तर-स्तर पर सज्जित हैं और स्तर क्रमोच्च भाव से एक सुन्दर गैलरी की भाँति विन्यस्त हैं। केवल यही नहीं किसी-किसी पुस्तक का

स्तर प्रयोजन के अनुसार चक्राकार अथवा अर्ध-चक्राकार रूप में सुसज्जित है। विभिन्न स्तरों के बीच से एक-एक पतली गली चली गयी है। हम जिस गली से चले थे अर्थात् हॉल के बीच में प्रवेश किया था, वह प्रधान गली है। हमने जाते हुए देखा, हॉल के प्रान्तभाग में एक साधारण चटाई पर महापुरुष विराजे हुए थे। उनके पृष्ठदेश में एक बड़ा तकिया और सामने भी चारों ओर विक्षिप्त भाव से कुछ कागज-पत्र, सर्वदा व्यवहार में आनेवाली पुस्तकें आदि रखी थीं। दावात, कलम, पेंसिल, कागज प्रभृति सभी सामग्री निकट में ही विद्यमान थी।

नीचे से ऊपर आने के समय मेरे मन में आशङ्का उठी थी कि इतने बड़े एक ज्ञानी और महापुरुष के दर्शन करने जाता हूँ—उनसे कैसे बात करूँगा और किस प्रकार उनके निकट अपने भाव प्रकाशित करूँगा ? मन में थोड़ा श्रद्धामिश्रित भीति का सञ्चार हो उठा। किन्तु जब पुस्तक-स्तूप के अन्तराल में जाकर उनका प्रत्यक्ष दर्शन-लाभ किया तब मुहूर्त-भर में सभी आशंका और संकोच समाप्त हो गये। जिन्हें इतने दिनों से देखने के लिए लालायित था और जिनका नाम और धाम ढूँढ़ निकालने में इतने दिन बीत गये, वे ही ये आर्यशास्त्र प्रदीपकार हैं ? यह प्रश्न मन में उठने लगा। देखा, मूर्ति अति सौम्य, प्रशान्त और गम्भीर है। असाधारण पाण्डित्य होने पर भी बालकोचित सरलता मानो उनके मुखमण्डल पर भासित हो रही थी। स्नेह, करुणा और व्याकुलता का एक भाव मानो उनके दोनों नेत्रों को आर्द्र किये हुए था। हमने पहुँचते ही उन्हें प्रणाम किया, उन्होंने भी हमें यथोचित आशीर्वाद प्रदान किया। शचीन्द्र मेरे पीछे बैठा। मैं सामने बैठकर महापुरुष के साथ बातचीत करने लगा। इन्दुभूषण हमें पहुँचाकर नीचे चला गया। महापुरुष ने हमारे परिचय की जिज्ञासा की। मैं क्या पढ़ता हूँ, कहाँ रहता हूँ, यह सम्पूर्ण समाचार मैंने उन्हें बताया।

उन्होंने मुझसे जिज्ञासा की, "बाबा, तुम्हारा कुछ जिज्ञास्य है क्या ? यदि कुछ प्रश्न है तो निःसंकोच जिज्ञासा करो।" उनका वाक्य स्नेह और करुणा से, विशेषतः वात्सल्य-भाव के स्नेह के स्वर में उच्चारित हुआ।

सुतरां मेरे मन में तब प्रकृत प्रश्न कुछ न होने पर भी उनसे उपदेश सुनने की आकांक्षा से एक कृत्रिम प्रश्न उठा। मैंने जिज्ञासा की—"बाबा, सत्य एक और अखण्ड है, यही गुरुजनों के मुख से सुनता हूँ। मुनि-ऋषि सभी सर्वज्ञ हैं, यह भी सुना है। सत्य यदि एक ही है तथा मुनि-ऋषियों ने यदि सकल सत्य का साक्षात्कार कर लिया है तो फिर उनके बीच मत-वैषम्य क्यों है? 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। इस वाक्य का प्रकृत तात्पर्य क्या है? इस वाक्य से हम समझते हैं कि नाना मुनियों के नाना मत हैं। यह धारणा प्राचीन काल से चली आ रही है। ब्रह्मवित् दो मुनियों का मत एक क्यों नहीं हो पाता?" मेरा यह प्रश्न सुनकर महापुरुष अत्यन्त आनन्दित हुए। उन्होंने कहा—"वत्स, तुम्हारे प्रश्न ने मुझे यथेष्ट आनन्द दिया। इस प्रश्न की मीमांसा होना सचमुच ही आवश्यक है। केवल तुम्हारे ही क्यों, अनेक लोगों के मन में इस प्रश्न का उदय होता है। इसका समाधान न कर पाने पर ज्ञान का प्रकृत गौरव समझ में नहीं आता। किन्तु ध्यान से देखो, तुम्हारे प्रश्न के अङ्गीभूत वाक्य के बीच ही उसका समाधान है। मुनि किसे कहते हैं? जो मननशील हैं वे ही मुनिपद वाच्य हैं। मत किसे कहते हैं? मन द्वारा जो अङ्गीकृत हो वही मत है। जब तक मन का अवलम्बन करके सत्य के साक्षात्कार की चेष्टा की जायगी तब तक अखण्ड सत्य का दर्शन-लाभ सुदूर-पराहत रहेगा। अखण्ड सत्य की धारणा करने के लिए मन को निरुद्ध करके एवं केवल मन को ही नहीं, अन्तःकरण की समग्र वृत्ति को निरुद्ध करके अन्तःकरण के बाहर जाना होगा। अन्तःकरण की पृष्ठभूमि में ही आत्मा का स्वयंप्रकाश आलोक अवस्थित है। विकल्प-शक्ति द्वारा मन इस आलोक को विभक्त करके पृथक्-पृथक् भाव रूप में परिणत करता है। मन का यह दोष नहीं, यही मन का स्वभाव है।

"विकल्पशून्य परम सत्य को पा लेने पर मन के ऊर्ध्व में उत्थित होना होगा। इस अवस्था में मतामत का कोई प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि जहाँ मन ही नहीं वहाँ मत कहाँ? किन्तु इस सत्य का प्रकृत चित्र अज्ञानी

को नहीं दिखाया जाता, क्योंकि उसका संक्रमण नहीं होता। अर्थात् एक आधार से अन्य आधार पर संचार नहीं होता। जिसका चित्त इस स्वयंप्रकाश भूमि में प्रविष्ट होगा उसे वह स्वयं ही प्रकाशित होगा। किन्तु अज्ञान जगत् के ज्ञान-लाभ का कोई उपाय उससे नहीं होता। यह अवस्था जिसकी है, केवल वह उसका ही है। यह ज्ञान, अज्ञानी परन्तु अनुरागी और आश्रित जिज्ञासु-जन को देना हो तो मन का आश्रय-ग्रहण अवश्यम्भावी है। मन का धर्म ही कल्पना वा विकल्पवृत्ति है। इस विशुद्ध ज्ञान को विकल्प के साथ युक्त करके जिज्ञासु के निकट उपस्थापित करना होता है। विकल्प नाना प्रकार का होता है। जिज्ञासु के चित्त की प्रकृति, वासना और अनुभव प्रभृति विचार करके तत्त्वज्ञ गुरु तदनुरूप भाव से शब्द के साहाय्य से उसे यह ज्ञान दान करते हैं।

"इस स्थान पर ही मन की सार्थकता है। यहीं से मत का उद्भव होता है। जो पूर्ण सत्य की धारणा मन के द्वारा करते हैं उनका तो मत रहेगा ही, किन्तु जो मन को त्याग करके पूर्ण सत्य को ग्रहण करने में समर्थ हुए हैं उनका भी मत है। तब वे मनोभूमि में विद्यमान, विशिष्ट अधिकार-सम्पन्न जिज्ञासु के निकट यह ज्ञान-संचार करते हैं। इसी कारण दोनों ज्ञानियों में स्वरूप-पार्थक्य न होने पर भी अधिकार भेद से उनके उपदेश के वीच पार्थक्य आ जाता है।" इसी कारण कहा है—

'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'

"यही मुनियों के मतभेद का रहस्य है। साधारण लोगों का, अर्थात् अज्ञ लोगों का मतभेद इस प्रकार नहीं है। साधारण लोगों के मतभेद का मूल अज्ञान है।"

मैंने महापुरुष के व्याख्यान और विश्लेषण खूब मनोयोग के साथ सुने। वहुत शास्त्रों के प्रमाण देकर और प्रबल युक्ति प्रदर्शन करके, धीर, स्थिर एवं सौम्य भाव से वे विषय की आलोचना कर रहे थे। मैं निश्चल भाव से धैर्य के साथ उनकी उपदेश-वाणी ग्रहण कर रहा था। इसी एक दिन के परिचय में उनसे ऐसा गम्भीर सम्बन्ध स्थापित हुआ जो बाद में

और किसी प्रकार नहीं टूटा। केवल उतना ही नहीं—यह सम्बन्ध क्रमशः परम आन्तरिकता में पुष्टि-लाभ को प्राप्त हुआ। मैं चार बजे यहाँ से लौटूँगा, ऐसा सङ्कल्प था। किन्तु चार बजे लौटना असम्भव हो गया। महापुरुष स्वयं ही हमारे साथ आलोचना में इतना तन्मय हो गये कि इस समय उनके अविच्छिन्न वाक्प्रवाह का प्रतिबन्धक बनने का साहस किसी को भी नहीं हुआ। फलस्वरूप सन्ध्या के प्राक्काल तक हम वहाँ उनके चरणतल में ही उपविष्ट रहे।

तब से मैं प्रायः ही समय पाने पर उनके दर्शन करने के लिए अपराह्न समय उनके निकट चला जाता। मेरे जाने पर साधारणतः मुझे बाहर प्रतीक्षा नहीं करनी होती, मुझे अबाध रूप से उनके निकट उपस्थित होने की अनुमति प्राप्त हो गयी थी। उन्होंने कुछ दिनों तक सोनारपुरा के उसी निवास में अवस्थान किया। तत्पश्चात् यह निवास बदलकर अनतिदूर, सम्भवतः भदैनी के निकट अन्य निवास में चले गये। वहां भी मैं बीच-बीच में पहुँचता। इस भदैनी के निवास में ही रंगपुर के सुप्रसिद्ध महामहोपाध्याय पण्डितराज यादवेश्वर तर्करत्न महाशय उनके प्रथम दर्शनार्थ गये थे।

तर्करत्न महाशय तब श्रीकाशीवास कर रहे थे। वे सपरिवार एक नम्बर अगस्त्यकुण्ड के दो तल्ले वृहत् भवन में रहते थे। उनका एकमात्र पुत्र वृन्दावनचन्द्र तब क्वींस कालेज में आई० ए० में पढ़ रहा था। वे श्री काशी आने के पूर्व ही, बहुत दिनों से बाबा को विशेष रूप से जानते थे। उनके अलौकिक पाण्डित्य एवं असाधारण योगशक्ति के साथ वे साक्षाद्भाव से परिचित थे। बाबा के साथ उनका चाक्षुष दर्शन न होने पर भी परम्परा से अत्यन्त घनिष्ठ भाव से उनकी लोकोत्तर शक्ति के विषय में अवगत थे।

तर्करत्न महाशय के मुख से सुना, बहुत दिन पूर्व उनके एक अन्तरङ्ग बन्धु नाना प्रकार की दुस्साध्य व्याधि से कष्ट पा रहे थे। उन व्याधियों के बीच तीव्र वात की वेदना सर्वप्रधान थी। नाना प्रकार की चिकित्सा करके भी अपनी पीड़ा का उपशम न होने से वे एक प्रकार से जीवन

की आशा छोड़ चुके थे। उनको दैहिक वेदना इस प्रकार असह्य हो चुकी थी कि वे प्रत्येक मुहूर्त में मृत्यु का वरण करते थे। इसी समय लोगों से बाबा के रोग आरोग्य करने की असाधारण शक्ति की बात सुनकर, बहुत कोशिश से बाबा के समीप उपस्थित होकर उन्होंने अपनी आर्ति के निवेदन का सुयोग पाया। रोगी के मुख से उसकी दुःसह यन्त्रणा की बात जानकर उनका कोमल हृदय करुणा से अभिभूत हो उठा। उन्होंने तब उन्हें उनकी दैहिक यन्त्रणा से मुक्त करने का सङ्कल्प किया।

वे आयुर्वेद, एलोपैथी, होम्योपैथी, क्रोमोपैथी, बायोकेमिक प्रभृति बहुत चिकित्सा-प्रणालियों से सम्यक् अवगत थे और जिस क्षेत्र में जो प्रणाली अधिक उपयोगी समझते उस क्षेत्र में तदनुसार ही चिकित्सा करते। उनकी रोग-निर्णय-प्रक्रिया भी अद्भुत थी।

उन्होंने इस भद्र पुरुष के लिए पूर्वोक्त किसी प्रणाली का अवलम्बन नहीं किया, केवल वैदिक मन्त्र की अचिन्त्य शक्ति का आश्रय लेकर रोगी की असह्य यन्त्रणा को अल्पकाल में ही पूर्ण भाव से शान्त करने में वे समर्थ हुए। साधारणतः वे ऋग्वेद अथवा अथर्ववेद के मन्त्र प्रयोग करते। वैदिक मन्त्र के ऊपर उनका ऐसा आधिपत्य था कि वे यथाविधि मन्त्र उच्चारण द्वारा थोड़े समय में ही रोग की यन्त्रणा और उपसर्ग की जटिलता दूर करने में समर्थ होते थे। इस पुरुष के लिए भी उन्होंने वैसा ही किया।

रोगी सज्जन को सम्मुख बैठाकर उनके मस्तक से पैर के अँगूठे तक अपने दाहिने हाथ की अङ्गुलि के अग्र भाग द्वारा संचालन करते हुए उन्होंने वेदमन्त्र का उच्चारण किया। इस उच्चारण और सञ्चालन-क्रिया के कई बार अनुष्ठित होने पर रोगी की असह्य वेदना आश्चर्यजनक रूप से शान्त हो गयी और उनकी देह में एक प्रकार का स्निग्ध शान्तिमय अनुभव अनुभूत हुआ। सुदीर्घ काल से बनी उस देह की यन्त्रणा को निवृत्त होते पांच मिनट से अधिक समय नहीं लगा। इसके बाद वेदना की पुनरावृत्ति नहीं हुई और कुछ दिनों तक इस क्रिया के अनुष्ठान से रोगी का मुख्य रोग भी निर्मूल भाव से अपगत हो गया।

इस घटना को तर्करत्न महाशय ने रोगी के मुख से सुना था। तभी से वे बाबाजी के चरण-दर्शन के लिए उत्सुक थे। किन्तु योगायोग के अभाव से अब तक वह नहीं हुआ। इस बार मेरे मुँह से उनकी प्रशंसा सुनकर उनके दर्शन करने के लिए सचेष्ट हुए। एक दिन मेरे साथ ही भदैनी के निवास में उपस्थित होकर उनके दर्शन किये।

बाबाजी ने तर्करत्न महाशय का अत्यन्त समादर के साथ अभिनन्दन किया। तर्करत्न महाशय संस्कृत भाषा के एक प्रसिद्ध कवि थे, यहाँ तक कि बंग देश में उनका प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं था, यह भी वे जानते थे। अनेक दिनों के बाद तर्करत्न महाशय ने अतिसुन्दर द्व्यर्थ बोधक श्लोकों की रचना करके महापुरुष का अभिनन्दन किया। उसे एक प्रकार का प्रशस्ति-काव्य कहा जा सकता है, किन्तु उसकी आलोचना यथासमय स्थानान्तर में की जायगी।

बाबाजी भदैनी निवास में कितने दिनों तक थे, यह ठीक नहीं कह सकूँगा, तब भी वहाँ बहुत दिनों तक थे यह ध्यान में नहीं है। क्योंकि मेरा जहाँ तक स्मरण है १९१२ अथवा १९१३ साल में उन्होंने काशी राजघाट स्टेशन के सन्निकट त्रिलोचन घाट के अनतिदूर नया महादेव मुहल्ले के एक घर में रहना आरम्भ किया था। सोनारपुरा अथवा भदैनी के मकान किराये पर थे, किन्तु नया महादेव का मकान उनके शिष्य पेंशन-प्राप्त सब-जज कालीपद मुखोपाध्याय महाशय ने उन्हीं के लिए गंगातीर पर बनवा दिया था। इस मकान में जाने के बाद जितने दिनों तक वे काशी में रहे उन्हें आवासस्थल परिवर्तन करना नहीं पड़ा। स्थान अतिमनोरम—जनसाधारण के चलाचल के राजपथ से दूर, एक निभृत प्रदेश में अवस्थित अथच सर्वथा गङ्गा के तीर पर था। यद्यपि मकान अति विशाल या वृहत्-आयतन का नहीं था, तथापि वह नितान्त छोटा भी नहीं था। जिस प्रकोष्ठ में बाबाजी बैठा करते थे और उनकी ग्रन्थराशि सज्जित थी, ठीक वहीं से अर्ध चन्द्राकार काशीतलवाहिनी गंगा की सम्पूर्ण धारा दृष्टिगोचर होती। बीच में प्राचीर अथवा गृह संक्रान्त कोई

व्यवधान नहीं था। बाबा के बैठने का और भक्तगण के साथ मिलने का जो कक्ष निर्दिष्ट था, उसके बाहर ही एक नातिप्रशस्त बरामदा था। अनुमति-प्राप्त भक्तगण आकर वहाँ अवस्थान करते और बाबा की उपदेश-वाणी श्रवण करते। जिस विशिष्ट भक्त या दर्शनार्थी के साथ वे आलोचना करते उन्हें अपने सामने अपने निवास में ही स्थान देते। जो अन्य भक्त-दर्शनार्थी अनुमति की प्रतीक्षा में बैठते उनका स्थान था नीचे एक बड़े हॉल में।

मैंने १९१० साल से १९१७ साल तक बाबा के साथ घनिष्ठ रूप से मिलकर नाना प्रकार की आलोचना में योगदान करने का सौभाग्य-लाभ किया। इस बीच इस स्थान में अनेक वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से देखने का अवकाश मिला और अनेक अज्ञात विषयों के जानने का सुयोग प्राप्त हुआ। उनके सम्बन्ध में कोई मतामत प्रकाश करना मेरे पक्ष में धृष्टता होगी। मैंने उनमें एक साथ कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग प्रभृति विभिन्न साधन-प्रणालियों का जो अपूर्व समन्वय देखा उसकी तुलना नहीं है। उनका शास्त्रज्ञान असाधारण था और शास्त्र के प्रति श्रद्धा भी उसी प्रकार प्रगाढ़ थी। वे जिस दृष्टि से ऋषिप्रोक्त शास्त्र को देखते थे—अपौरुषेय वेदादि की तो बात ही नहीं—उस प्रकार की दृष्टि वर्तमान युग में प्राचीन संस्कार-सम्पन्न, पूर्वाचार के अनुवर्तनकारी ब्राह्मण पण्डित में भी साधारणतः नहीं देखी जाती। समग्र वेदसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि सहित समग्र श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतिशास्त्र और स्मृति निबन्ध, पुराण, उपपुराण, तन्त्रसाहित्य, सर्वाङ्गसम्पन्न ज्योतिष, आयुर्वेद प्रभृति विभिन्न स्थानों के मुद्रित और प्रकाशित प्रायः सभी ग्रन्थ उनके समीप विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान, गणितशास्त्र, तर्कशास्त्र, चिकित्साशास्त्र प्रभृति विभिन्न विषयों के बहुत से ग्रन्थ उनकी अध्ययनशाला में विद्यमान थे। सभी ग्रन्थों को वे श्रद्धा के साथ पढ़ते और तुलनामूलक आलोचना करते। किन्तु उनके सत्यनिरूपण का निकष था ऋषिवाक्य। व्याकरण, अलङ्कार शास्त्रादि भी उन्होंने बहुत अच्छी तरह पढ़ रखे थे। सच बात कहने में क्या है, भर्तृहरि प्रणीत वाक्यपदीय

के प्रति जो श्रद्धा अब विद्वन्मण्डली में देखी जाती है उसका मूल भी वर्तमान युग में उनके पास मिल जाता है। वाक्यपदीय व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है। जिस समय बाबाजी वाक्यपदीय की आलोचना करते थे उस समय इस ग्रन्थ का अच्छा संस्करण प्रकाशित नहीं था। इतने दिनों के बाद विभिन्न प्रकाशक, सम्पादक और व्याख्याकर्ताओं द्वारा इस ग्रन्थ की आलोचना का मार्ग बहुत कुछ सुगम हुआ कहा जा सकता है, तथापि बाबाजी के समय में यह सुगमता थोड़ी भी नहीं थी। ऐसा होने पर भी मेरा दृढ़ विश्वास है—वे अपनी अनुपम प्रतिभा के आलोक में वाक्यपदीय के मूलभूत व्याकरण आगम का रहस्य जिस प्रकार समझते एवं समझाते, उसकी तुलना कहीं नहीं है। पाश्चात्य विज्ञान वा दर्शन का वे अनादर नहीं करते थे। तद्रूप द्वैतवाद वा अद्वैतवाद, किसी पर उनका एकान्त पक्षपात नहीं था। वे समन्वय दृष्टि से ही सर्वत्र सामञ्जस्य स्थापन करने की चेष्टा करते। कर्म के साथ जिस प्रकार भक्ति और ज्ञान का विरोध नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के साथ भी कर्म और भक्ति का, एवं भक्ति के साथ ज्ञान और कर्म का कोई विरोध नहीं, यह वे कहा करते। प्रत्येक मार्ग ही अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रवृत्त हैं। अनधिकार चर्चा न करने पर एक के साथ दूसरे का विरोध नहीं हो पाता।

उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे। उनका सर्वप्रथम और प्रधान ग्रन्थ "आर्यशास्त्र प्रदीप" है। इस महाग्रन्थ के सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होने पर विशेष कल्याण होता, इसमें सन्देह नहीं। इसकी भूमिका में से जो अंश प्रकाशित हुआ उतना ही अति विशाल और अपूर्व है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने जिस प्रकार 'सिन्थेटिक फ़िलासफ़ी' की परिकल्पना की थी उसकी अपेक्षा भी अधिक विराट् कल्पना थी आर्यशास्त्र प्रदीपकार की। इस कल्पना को कार्य में परिणत करने की सामर्थ्य भी उनमें थी। किन्तु हमारा दुर्भाग्य, यह हो नहीं पाया। उनका मानव-तत्त्व और वर्णविवेक अपूर्व ग्रन्थ है। उनका परलोकतत्त्व, परलोक और आवश्यकीय सभी विषयों के सम्बन्ध में विपुल ग्रन्थ है। यह बड़े-बड़े चार ग्रन्थों में सम्पूर्ण

हुआ था। इसके तीन खण्ड मैंने देखे हैं, चतुर्थ खण्ड मैंने नहीं देखा। प्रकाशित हुआ कि नहीं, मैं नहीं जानता। उनका 'भूत और शक्ति', आयुस्तत्त्व, भक्तितत्त्व, गणित का दार्शनिक रहस्य प्रभृति विभिन्न विषयक आलोचना-प्रधान ग्रन्थ था। ये सभी ग्रन्थ, उनके काशी आने के पूर्व की रचनाएँ हैं। काशी आने के बाद, काशी अवस्थान के अन्तिम दिनों में एवं काशीत्याग के बाद उनके और भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इन सभी ग्रन्थों में कुछ पूर्ण रूप से, कुछ अपूर्ण रूप से प्रकाशित हुए। इन सब ग्रन्थों के नाम हैं—

(१) शिवरात्रि और शिव पूजा।
(२) शिव तथा शिवार्चन तत्त्व (हिन्दी)।
(३) (पूजातत्त्व संकलित) दुर्गा, दुर्गार्चन और नवरात्र तत्त्व।
(४) शिव, राम का अभेद तत्त्व तथा श्रीरामावतार की कथा।

इनमें कुछ ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। इसके बाद उन्होंने और भी बहुत से ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया था, उनमें कुछ परम श्रद्धेय स्वर्गत रामदयाल मजुमदार महाशय की 'उत्सव' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। इन सब ग्रन्थों एवं निबन्धों के अतिरिक्त उनके अप्रकाशित अनेक लेख भी थे।

उनकी आर्यशास्त्र-प्रदीप-रचना के समय का विवरण मैंने उनके मुँह से सुना है। तब इस ग्रन्थ की रचना करना और उसे मुद्रित कराके प्रकाशित करना यही उनका भगवान् द्वारा निर्दिष्ट कर्म था। वस्तुतः भगवान् की प्रेरणा के विना ऐसे ग्रन्थ की रचना कोई नहीं कर सकता। क्षुधा-तृष्णा से विरहित भाव से एक आसन पर बैठकर घण्टों वे लिखते और साथ-साथ प्रूफ संशोधन भी करते जाते। उनकी सहायता करनेवाला कोई भी नहीं था। सुना है, वे किसी-किसी दिन १७-१८ घण्टे तक आसन त्याग करके नहीं उठते थे। इस ग्रन्थ की रचना के समय जब जो ग्रन्थ आलोचना के लिए आवश्यक हुआ, वह भी उन्हें प्राप्त हो गया। कौन ग्रन्थ आवश्यक है, वे अनेक बार पहले से ही जान जाते थे। केवल यही नहीं, अपूर्व योगायोग के फलस्वरूप ये सभी उनके सम प आकर

उपस्थित हो गये। जिस समय में जिस विषय का ग्रन्थ आवश्यक होता उसी समय उस विषय की विशद आलोचना से संवलित ग्रन्थ किसी-न-किसी सूत्र से उनके निकट उपस्थित हो जाता। इस सम्बन्ध में अनेक वृत्तान्त उनसे सुने हैं—प्रत्येक वृत्तान्त ही अत्यन्त अद्भुत एवं अलौकिक है।

आलोच्य विषय में जब कोई दुर्भेद्य संशय उपस्थित होता तभी ऊपर से उसके समाधान का उपाय वे जान जाते। उनके मुख से सुना है, उन्होंने बहुत शास्त्रों का ज्ञान इसी प्रकार अलौकिक भाव से प्राप्त किया है।

प्रसिद्धि है—एक बार वे प्रथम वयस् में पाणिनि के महाभाष्य (पतञ्जलिकृत) का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठे। इस समय बङ्गदेश में पाणिनि व्याकरण का प्रचार बहुत अधिक नहीं था। इस युग में एकमात्र तारानाथ तर्कवाचस्पति को छोड़कर बंगाली पण्डित-मण्डली के बीच पाणिनि व्याकरण के मर्मज्ञ पण्डित कम थे। कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में गोविन्द शास्त्री भरद्वाज नाम के एक दक्षिणी पण्डित तब पाणिनि व्याकरण का अध्यापन करते थे। ये काशी के थे और इनके भ्राता भारत-विख्यात सुप्रसिद्ध वैयाकरण, महामहोपाध्याय दामोदरशास्त्री भरद्वाज काशी राजकीय संस्कृत कॉलेज के अध्यापक थे। बाबाजी प्रकृत विद्यार्थी थे—इस विद्या की प्राप्ति के लिए ही वे पूर्वोक्त शास्त्री महाशय के निकट उपस्थति हुए तथा उन्हें यथाविधि प्रणिपात करके उनसे उन्होंने प्रार्थना की।

शास्त्री महाशय तब विद्यार्थियों से परिवृत होकर शास्त्र की व्याख्या कर रहे थे। उन सब विद्यार्थियों में प्रायः सभी परीक्षार्थी विद्यालय के साथ संश्लिष्ट थे। बाहर के छात्र को पढ़ाने का समय उनके पास नहीं था, यह कारण दिखाकर शास्त्री महाशय ने बाबाजी के अनुरोध का प्रत्याख्यान किया।

बाबाजी के पुनः पुनः चरण पकड़कर प्रार्थना करने पर भी शास्त्री महाशय ने विरक्त होकर उन्हें प्रतिनिवृत्त कर दिया और सम्भवतः कुछ

कटुवचन का भी प्रयोग किया। पण्डित महाशय के इस प्रकार के अशोभन व्यवहार से बाबाजी अत्यन्त मर्माहत हो गये। उनके कोमल युवक हृदय पर अत्यन्त आघात पहुँचा। उन्होंने सोचा, वे तो कोई लौकिक स्वार्थ के प्रत्याशी नहीं थे, केवल ज्ञान की आकांक्षा-निवृत्ति के लिए ही ज्ञानी के निकट प्रार्थना की थी। किन्तु उनकी वह प्रार्थना हृदय की ऐकान्तिक प्रार्थना होने पर भी स्वीकृत नहीं हुई। वे अभिमान और क्षोभ से जर्जरित होकर उस स्थान को छोड़कर घर आये और किसी दिन ज्ञान के लिए वा अन्य किसी प्रकार के अभाव के लिए मनुष्य के द्वार पर भिक्षा माँगने नहीं जायेंगे, ऐसा दृढ़ संकल्प किया। उस दिन वे मनोवेदना से इतना अभिभूत हुए कि दिन-रात किसी भी सयय अन्न-जल का ग्रहण नहीं कर सके।

सुना है, उस रात ही उन्होंने महानिशा के बाद अपने साधनगृह में एक महापुरुष का दर्शन-लाभ किया। आकृति देखते ही पहचान लिया, वे कोई ऋषि वा सिद्ध पुरुष होंगे। दिव्य ज्योतिर्मय देह, शान्त और प्रसन्न मुखमण्डल, समग्र मूर्ति में मानो गंभीर प्रभा और कारुण्य लिप्त था। गृहद्वार भीतर से अर्गलबद्ध था—महापुरुष के इस प्रकार गंभीर निशीथ में उस घर में प्रविष्ट होने के साथ-साथ घर मानो आलोकित हो उठा और क्षुब्ध हृदय युवक की दृष्टि उनके ऊपर पड़ी।

महापुरुष ने जिज्ञासा की, "वत्स, इतना क्षुब्ध क्यों है ? जानता नहीं कि शरीर को कष्ट देना पाप है। तूने पूरे दिन अन्न-जल ग्रहण क्यों नहीं किया ? कोई विशिष्ट व्यक्ति तुम्हारी ज्ञान-पिपासा निवृत्त करने को तैयार नहीं हुआ, इसीलिए क्या यह तुम्हारा अभिमान है ? तू क्या नहीं जानता, सुकृतिमान् जिज्ञासु भक्त एकमात्र भगवत्सान्निध्य से ही अपने सब प्रकार के ज्ञान का अभाव मोचन कर सकता है ? आज मैं तुझे व्याकरण भाष्य के रहस्य की शिक्षा दूँगा। मैंने ग्रन्थ की रचना की है, मैं क्या शिक्षा देना नहीं जानता ? तू शान्त हो, स्थिर भाव से उपवेशन कर।"

बाबाजी अपरिणत वयस्क युवक होने पर भी सहज ही समझ सके कि यह आविर्भूत पुरुष अन्य कोई नहीं स्वयं भगवान् पतञ्जलिदेव हैं। इसके बाद वे उठकर बैठ गये। तब महापुरुष व्याकरण आगम के जटिल रहस्य को उन्हें समझाने लगे। कहना क्या, विशाल भाष्य के प्रथम से शेष पर्यन्त प्रायः समस्त को उन्होंने संक्षिप्त भाव से उन्हें समझा दिया।

श्रोता उनके ज्ञानपूर्ण उपदेश के साथ इङ्गित ज्ञान प्राप्त करके धन्य हो गया, उनका सब संशय छिन्न हो गया और जिज्ञासा निवृत्त हो गयी। जब महापुरुष उनके गृह से अन्तर्धान हुए तब वे पूर्व भाव में व्युत्थित हुए और क्या घटना घटी उसे समझ सके। देखा कि महापुरुष के आविर्भाव और तिरोभाव के बीच बहुत अधिक समय का व्यवधान नहीं था, अथच इस अल्प समय के मध्य ही उन्होंने समग्र महाभाष्य, उन्हें व्याख्या करके विशद भाव से समझा दिया। यह अति अद्भुत व्यापार है।

हम साधारणतः काल के जिस मान में अवस्थित है, वह उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर मान का है, यह वे समझ सके। केवल वही नहीं, स्थूल देहाभिमानी अहं किसी ज्ञान के धारण में वेग और बाधा प्राप्त होता है, किन्तु सूक्ष्माभिमानी अहं उसे अति सहज ही ग्रहण करने में समर्थ होता हैं। उन्हें लगा, यह असम्भव कुछ नहीं है। उन्होंने अपने उपलब्ध ज्ञान की परीक्षा करने के लिए भाष्यग्रन्थ को खोलकर अध्ययन करना आरम्भ किया, साथ-साथ महापुरुष की तत्त्व व्याख्याएँ, मानो "प्राक्तन जन्म विद्या" रूप में, परिस्फुट पूर्वस्मृति रूप में उनके हृदय में जाग उठने लगीं। मैंने बाबाजी के मुख से भगवान् पतञ्जलि की व्याख्या का कोई-कोई अंश श्रवण करने का सौभाग्य-लाभ किया है। "स्थाने अन्तरतमः" एवं "स्त्रियाम्" प्रभृति सूत्रों की आर्ष व्याख्या अभी भी मेरे स्मृति-फलक पर यथाश्रुत भाव से अंकित है।

इसी प्रकार किसी एक वर्ष शिवरात्रि की महारात्रि में समग्र न्याय दर्शन उन्हें महर्षि गौतम से प्राप्त हुआ था। इस विषय में विस्तारित आलोचना करना सङ्गत नहीं प्रतीत होता। ये सब विषय साधारण

लोगों की बुद्धि के अगम्य हैं। जो भाग्यवान् हैं वे इसे समझ सकेंगे, सभी इसका मर्म ग्रहण कर सकेंगे, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

बाबाजी का पूर्व नाम था शशिभूषण सान्याल, यह बात पहले कह चुका हूँ। इस कारण बहुतों ने उन्हें 'सान्याल महाशय' कहकर उल्लेख किया है। परमहंस रामकृष्णदेव उन्हें शशी कहकर ही पुकारते एवं ठाकुर के पुरातन भक्तगण भी इसी नाम से उन्हें अभिहित करते। उनके गुरु थे—महासिद्ध योगिराज श्री श्री शिवरामानन्द परमहंस। बाबाजी को गुरु का आश्रय-लाभ कराने के अल्प दिन बाद ही गुरुदेव का देहावसान हो गया। चिद्घनानन्द स्वामी नामक अपने एक ज्येष्ठ गुरुभ्राता के निकट वे साधन रहस्य से अवगत हुए। श्रीगुरुचरण का आश्रय करने के पश्चात् ही उन्होंने पूर्व नाम त्याग करके अपने को शिवरामकिङ्कर के रूप में लोगों के निकट प्रख्यापित किया। कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनों के योग में उनकी समान रुचि और अधिकार था। इस कारण भक्तगण उन्हें योगत्रयानन्द नाम से निर्देश करने लगे। वस्तुतः किसी नाम को वे सम्पूर्ण आदर के साथ ग्रहण नहीं कर सकते थे। उनके प्राचीन ग्रन्थों में उनके किसी नाम का उल्लेख नहीं था। परवर्ती ग्रन्थादि में शिवरामकिङ्कर नाम तो अवश्य देखा गया, किन्तु वह भक्त और प्रकाशक-गण का कार्य ही प्रतीत होता है।

बाबाजी गृही थे अथवा त्यागी थे, इस सम्बन्ध में मेरा केवल यहीं वक्तव्य है कि वे गृहस्थ होने पर भी परम त्यागी थे। "निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनं"—यह शास्त्र-वाक्य उनके सदृश रागद्वेषहीन, पूर्ण वैराग्य-सम्पन्न कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ के सम्बन्ध में ही प्रयोज्य है। उन्होंने विवाह किया था और उनके पुत्रादि भी थे। रहते भी थे वे घर पर ही। किन्तु उनका व्यवहार था भीतर और बाहर से निर्लिप्त संन्यासी की भाँति। मैंने उनकी पूर्वावस्था नहीं देखी एवं उस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञानमूलक बात मैं कुछ भी नहीं कह सकूँगा। तब भी जब से मैंने उन्हें देखा तबसे उन्हें बराबर स्थितप्रज्ञ अथवा जीवन्मुक्त महापुरुष कहकर ही श्रद्धा की।

उनके पूर्व जीवन में दुस्तर तपस्या, भगवत्-शरणागति, आत्मसंयम और शास्त्र-निष्ठा का भाव उज्ज्वल भाव से प्रस्फुटित हो चुका था। उनके ही मुख से उस समय की बहुत-सी घटनाएँ सुनी थीं। उनमें कोई-कोई ध्यान में हैं, बहुतों को भूल गया हूँ। प्रसङ्ग-क्रम से यहाँ एक घटना की बात उल्लेख करता हूँ। जिस समय की बात कहता हूँ, तब वे वराह-नगर में रहते थे। उस समय वे अयाचक भाव से गृहस्थ आश्रम में अवस्थान कर रहे थे। चिकित्सा-व्यवसाय कर सकते थे, किन्तु नहीं करते थे। सब प्रकार की चिकित्सा का तात्त्विक और प्रायोगिक ज्ञान उन्हें था। चिकित्सा करके वे सहज ही अर्थ-उपार्जन कर सकते थे। वस्तुतः वे चिकित्सा करते नहीं थे ऐसा भी नहीं, क्योंकि नाना देशों से आये बहुत लोग उनके द्वारा चिकित्सित हुए थे। किन्तु कहीं वे अर्थग्रहण नहीं करते थे। सुना है, एक दिन अर्थसङ्कट के समय उनके मन में चिकित्सा-वृत्ति ग्रहण करें कि नहीं, इस प्रकार का एक संशय उदित हुआ। इस संशय से अति तीव्र भाव से उनका चित्त डोलने लगा। समाधान का कोई उपाय न पाकर वे व्याकुल हो उठे। इसी समय हठात् हवा से उड़कर किसी छिन्न पुस्तक का एक खण्ड-पत्र उनके निकट आ गिरा। वह पत्र किसी शास्त्रीय ग्रन्थ (वैदिक ग्रन्थ) का एक छिन्न-पत्र था। उस पर दृष्टि पड़ते ही उन्होंने देखा, लिखा था—ब्राह्मण के लिए भेषज का आश्रय ग्रहण करना उचित नहीं। वे समझ गये, उनके लिए चिकित्सा-वृत्ति को जीविका रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकेगा। तभी से उन्होंने इस संकल्प का त्याग कर दिया। नौकरी करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। उनका परिवार भी नितान्त अल्प नहीं था, क्योंकि उनके अपने कुटुम्बादि के अतिरिक्त छात्र एवं चिकित्सार्थी रूप में भी बहुत-से लोग उनके निकट आकर रहते थे।

सभी के भरण-पोषण का वे अपना कर्तव्य समझते। किसी से वे एक कौड़ी भी नहीं लेना चाहते—अयाचित भाव तथा सात्त्विक अन्तःकरण से उन्हें जो कोई कुछ देता उससे ही उनके आश्रित-जनों के भरण-पोषण की व्यवस्था होती। इस तरह किसी प्रकार दिन कटते थे। एक समय ऐसा हुआ

कि उस दिन कहीं से कुछ नहीं जुटा। तब उनके आदेश पर सबने विल्व-पत्र का रस ग्रहण करके आनन्द के साथ वह दिन बिताया। बाद का दूसरा दिन भी इसी प्रकार कट गया। तत्पश्चात् तृतीय दिन भी मध्याह्न पर्यन्त कहीं से कुछ प्राप्ति का निदर्शन दृष्ट नहीं हुआ। किन्तु बाबाजी ने शान्त और अक्षुब्ध भाव से, अविचलित अन्तःकरण से, उस दिन अपना दैनन्दिन कार्य किया। रोगी के रोग की चिकित्सा और जिज्ञासु का संशय-भञ्जन, यही था उनका नित्य कार्य। अपराह्न काल में प्रयोजन के अनुसार शास्त्र-ग्रन्थ का अध्यापन किया। तीसरे दिन अपराह्नोत्तर काल में वे ब्रह्मसूत्र के भाष्य के सम्बन्ध में सम्मिलित श्रोतृमण्डली के समक्ष आलोचना कर रहे थे। इस आलोचना में अनेक लोग उपस्थित थे। सुना है, उस समय स्वामी अभेदानन्द भी उपस्थित थे। अवश्य ही तब इस नाम से वे परिचित नहीं थे—तब सभी उन्हें काली महाराज कहकर पुकारते। बाबाजी के भक्तों में कोई नहीं जानता था कि उनके घर में तीन दिनों से कैसी व्यवस्था चल रही है। क्योंकि बाबाजी कभी किसी को रंचमात्र भी नहीं बताते थे। उनका विश्वास था, जो जाननेवाले हैं, वे सब कुछ जानते हैं, अन्य को जनाने का प्रयोजन क्या है? देनेवाले मालिक भी वही हैं, देना होगा तो किसी-न-किसी सूत्र का अवलम्बन करके वे ही देंगे। उसके लिए वृथा अभियोग करने से क्या लाभ?

इस प्रकार उस दिन अपराह्न काल में जब दार्शनिक आलोचना घनीभूत हो उठी, उसी समय डाक विभाग का एक पत्रवाहक (पियून) एक रजिष्ट्री लेकर उस स्थान पर उपस्थित हुआ। पत्र इन्श्योर किया हुआ था तथा साक्षात् बाबाजी के नाम से भेजा गया था। बाबाजी ने यथा-विधि हस्ताक्षर करके पत्र ग्रहण किया और उसे खोलकर सब कुछ आद्योपान्त मन-ही-मन पढ़ा। तत्पश्चात् पत्र को यथास्थान रखकर कुछ ऊर्ध्व दृष्टि होकर बैठे। तब देखा गया, उनकी आँखें अश्रुसिक्त हो उठीं, केवल अश्रुसिक्त ही नहीं नेत्रों से आँसू अविरल धारा में बहने लगे। प्रायः १५ मिनटों तक इस प्रकार चलता रहा। भक्त जिज्ञासु और श्रोतृवर्ग तब

निस्तब्ध भाव से उपविष्ट होकर वह दृश्य देखने लगे। यह एक अभूतपूर्व दृश्य था—इस प्रकार का दृश्य उन्होंने कभी नहीं देखा था।

काली महाराज बोले, "बाबा क्या बात है? पत्र में क्या कोई शोक-संवाद आया है? आपकी आँखों से आँसू का उद्गम तो हमने कभी नहीं देखा! जिन्होंने हँसते-हँसते अपने प्रिय शिशु को अपने हाथ से उठाकर श्मशान-भूमि ले जाकर चिता पर सुलाया, वे शोक से अभिभूत होंगे यह समझ में नहीं आता। किन्तु समझ नहीं पाता हूँ, आप की आँखों में जल कैसा? आप पत्र पढ़कर स्तब्ध क्यों हो गये?"

यह बात सुनकर बाबाजी बोले, "ये शोक से उत्पन्न अश्रु नहीं हैं। शोक मुझे अभिभूत नहीं कर पाता। मैं भगवान् की करुणा से अभिभूत हूँ। उनकी करुणा की बात सोचकर मैं कठोर संयमी होने पर भी अश्रु का संवरण नहीं कर पाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने पत्र को भक्तों के निकट रख दिया और कहा, "आप लोग पढ़कर देख लें।" तब सबके सम्मुख पत्र पढ़ा गया। उससे जो समझा गया वह यह है—उनका नाम मित्र है। उन्होंने लिखा है कि उन्होंने पूर्व रात्रि में स्वप्न देखा है। इष्ट देवता श्री काशीनाथ विश्वेश्वर प्रकट होकर क्षुधार्तभाव से उनसे अन्न की भिक्षा मांग रहे थे। उनके मन में हुआ, विश्वनाथ मानो कहते थे "मैं उपवासी हूँ—अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। मेरा एक परम भक्त उपवासी है, इसी कारण मैं भी उपवासी हूँ। तुम यदि मुझ पर लेश-मात्र भी भक्ति करते हो तो अविलम्ब मेरे अन्न-जल का संस्थान कर दो अर्थात् उस भक्त के अन्न-ग्रहण की व्यवस्था करो। यह अविलम्ब करना चाहिए, विलम्ब न हो।" यह कहकर उन्होंने मित्र महाशय को अपने भक्त का नाम और ठिकाना बता दिया तथा ज्योतिर्मय अक्षरों में उसे लिखित रूप से दिखा भी दिया। मित्र महाशय स्वप्न देखने के बाद ही जाग उठे, स्मृति के अनुसार नाम और ठिकाना लिख लिया। तदनुसार इन्श्योर करके उन्होंने पाँच सौ रुपये का नोट बाबाजी के नाम से भेज दिया। उन्होंने और भी लिखा, यद्यपि वे बाबाजी को न तो पहचानते थे न उनका ठिकाना ही

जानते थे तथापि उनका विश्वास है, उनका स्वप्न मिथ्या नहीं होगा, उनका भेजा हुआ पैसा यथास्थान पहुँच जायगा।

चिट्ठी की बात कहते-कहते बाबाजी ने घर का इतिहास खोलकर कहा। तीन दिनों से सभी निराहार हैं, उसे भी उन्होंने कहने में संकोच नहीं किया। वे जानते थे कि कुछ भी सूचना देने पर उनके अनेक भक्त परम आनन्द के साथ उनका अभाव दूर करने की व्यवस्था कर देंगे। किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। उनका एकमात्र लक्ष्य था भगवान् के चरण में, इसीलिए वे जगत् के सम्मुख अपने अभाव की घोषणा करने में सम्मत नहीं हुए। वे जानते थे, जिनकी ओर वे लक्ष्य करके बैठे हैं वे सब कुछ देख सकते हैं तथा इच्छा होने पर मुहूर्त में ही सब व्यवस्था कर सकते हैं। यह कहकर वे बोले कि श्री भगवान् की अपार करुणा की बात स्मरण करके ही उनका हृदय विगलित हो उठा है और उनके नेत्र अश्रु से आप्लुत हो उठे हैं। यह सुनकर सभी आनन्द में विह्वलप्राय होकर भगवान् के नाम-कीर्तन में मग्न हो गये। उस दिन का पठन-श्रवण वहीं समाप्त हो गया।

बाबा के राजघाट पर रहने के समय की एक घटना ध्यान में आती है। उस समय पूर्वोक्त तर्करत्न महाशय के पुत्र वृन्दावन अत्यन्त अस्वस्थ थे। वे स्वभावतः चिर-रोगी होने पर भी कुछ दिनों से नाना प्रकार के स्नायविक उपसर्ग से कष्ट पा रहे थे। अन्त में वे अत्यन्त अवसन्न हो गये तथा जीवन के सम्बन्ध में एक प्रकार से हताश हो गये।

पिता-माता उनकी अवस्था देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। कुछ दिनों तक वृन्दावन की अवस्था इस प्रकार सङ्कटापन्न हो गयी कि उनके पूजनीय पितृदेव ने अनन्यगति होकर बाबाजी की शरण ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। मैं तब क्वींस कालेज के बोर्डिंग हाउस में रहता था। एक दिन प्रातःकाल देखा, तर्करत्न महाशय का पुराना भृत्य कालीसिंह उनकी एक चिट्ठी लेकर मेरे निकट उपस्थित हो गया। तर्करत्न महाशय मुझसे अत्यन्त स्नेह करते थे और मुझे अपने पुत्र की भाँति आत्मीय भाव से देखते थे। मैं भी वृन्दावन को छोटे भाई की भांति समझता था।

तर्करत्न महाशय ने लिखा था कि पूर्व रात्रि में वृन्दावन की शारीरिक अवस्था अत्यन्त सङ्कटापन्न हो उठी। यद्यपि यह अवस्था कट गयी तथापि फिर भी उसकी स्थिति आशाप्रद नहीं थी। उन्होंने मुझे उनका पत्र पढ़ते हो उनसे मिलने को लिखा था। मैं उन्हें साथ लेकर एक बार राजघाट बाबा के निकट उपस्थित होऊँ जिससे वे बाबा के श्रीचरण में वृन्दावन के कल्याण की प्रार्थना कर सकें।

बोर्डिंग हाउस से अध्यक्ष महाशय की अनुमति लेकर कालीसिंह केसाथ मैं तत्क्षण अगस्त्य कुण्ड रवाना हुआ तथा अल्पक्षण के बीच ही तर्करत्न महाशय के निकट उपस्थित हुआ। वहाँ जो दृश्य देखा उससे हृदय विगलित हो गया। देखा, वृन्दावन काठ की तरह पड़ा हुआ है, उसकी स्नेह-शीला माता सिरहाने बैठकर रुदन कर रही हैं। अदूर एक पृथक् आसन पर तर्करत्न महाशय बैठकर मानो कविता लिख रहे थे। मेरे जाकर प्रणाम करते ही तर्करत्न महाशय मुझसे बोले—"संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रार्थना रूप में कुछ श्लोक मैं बाबाजी के निकट पाठ करूँगा और उनके चरणों में अर्पण करूँगा, ऐसा सोचता हूँ।" यह कहकर उन्होंने श्लोकों को पढ़कर सुनाया। देखा, श्लोक अति सुन्दर हुए हैं, वे बाबा के सदृश सुपण्डित तथा सिद्धयोगी पुरुष के निकट अर्पण करने योग्य हैं। जो भी हो, उन्होंने मुझे राजघाट चलने के लिए तैयार होने के लिए कहा।

वह समय अति मूल्यवान् था, विलम्ब करना उचित नहीं समझा। मैं फिर भी उनके प्रस्ताव में कुछ इतस्ततः करने लगा, क्योंकि मैं जानता था कि प्रातःकाल बाबा का दर्शन करना सम्भव नहीं, अपराह्ण काल में ही दर्शन करने का प्रशस्त समय है। प्रातःकाल वहाँ जाने पर या तो निराश होकर वहाँ से लौट आना होगा या उनके निकट संवाद पहुँचाना भी सम्भव न होगा। साधारणतः इस समय वे साधन-गृह में एकान्त अवस्थान करते हैं, किसी साधारण व्यक्ति का, यहाँ तक कि उनके अन्तरङ्ग जन का भी, इस समय उनके निकट जाना सहज नहीं। किन्तु मेरा प्रतिवाद होने पर भी तर्करत्न महाशय तभी चलने के लिए उद्यत हो गये, क्योंकि अपराह्ण

पर्यन्त प्रतीक्षा करने का साहस और धैर्य उन्हें नहीं था। अगत्या एक एक्का से हम दोनों ने राजघाट की यात्रा की।

यथासमय नया महादेव स्थित बाबाजी के आवास स्थान पर पहुँचे। पहुँचते ही जो देखा उससे मेरे मन में युगपत् विस्मय और आनन्द उदभूत हुआ। देखा, बाबाजी का एकनिष्ठ प्रिय सेवक सतीश गृह के द्वार-देश पर खड़ा है और हमें देखकर अत्यन्त आदर के साथ बाबाजी के निकट ले जाने के लिए प्रस्तुत है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत हुआ। उसने कहा, बाबा ने उससे कहा है, "गोपीनाथ और तर्करत्न महाशय के यहाँ आने की बात है। वृन्दावन का शरीर अत्यन्त अस्वस्थ है। वे लोग आकर वापस लौट न जायँ। तू नीचे जाकर द्वार पर प्रतीक्षा कर और उनके आने पर तत्क्षणात् उन्हें साथ लेकर मेरे निकट आना। मैं उनके लिए प्रतीक्षा करूँगा। अभी साधारणतः मिलने का समय न होने पर भी मैं अवश्य ही मिलूँगा, कोई उन्हें बाधा न दे।" सतीश की यह बात सुनकर तर्करत्न महाशय की आँखों से आँसू निकल पड़े। हमलोगों ने चुपचाप दोतल्ले पर चढ़कर बाबाजी के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया।

देखा, बाबा पूजागृह से बाहर आकर अपने आसन पर शान्तभाव से उपविष्ट रहकर उत्कण्ठित भाव से हमारे आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। सम्मुख एक गलीचे का आसन तर्करत्न महाशय के लिए बिछाया था। तर्करत्न महाशय प्रणतिपूर्वक अपने स्थान पर बैठे तथा अपने प्रशस्ति-श्लोक पाठ को सुनाना आरम्भ किया।

बाबा पहले ही वृन्दावन की कुशल-वार्ता की जिज्ञासा करके बोले, "मैंने गत रात ही आसन पर बैठने पर वृन्दावन के शरीर की अवस्था देख ली। यह भी देखा कि आप अत्यन्त उत्कंठित हो गये हैं और गोपीनाथ को लेकर मेरे निकट आ रहे हैं। तभी मैंने क्रिया स्थान से उठकर सतीश को कह रखा था, जिससे बिना बाधा के आप लोग मेरे निकट आ सकें। साधारणतः यह मेरे निकट आने का समय न होने पर भी मैं निश्चय ही आपलोगों से मिलूँगा, यह उससे कह दिया था। उसके अतिरिक्त आप लोगों

के बैठने की व्यवस्था भी करा दी थी।" तर्करत्न महाशय ने यह सब बात सुनकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करके जिज्ञासा की—"यह क्या योग-शक्ति का व्यापार है?" बाबा ने कहा, "योगशक्ति और क्या है? हृदय के साथ हृदय का योग स्थापित होने पर इस प्रकार स्वभावतः ही हो जाता है—तब दूर को भी निकट देखा जाता है और भविष्यत् को भी वर्तमान रूप में जाना जाता है। जो भी हो, आप वृन्दावन के लिए चिन्ता न करें। जब वह मेरी देख-रेख में है तब वह अवश्य अच्छा हो जायगा। आप घर जाकर देखें कि उसकी अवस्था में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं।" इसके बाद तर्करत्न महाशय को और कुछ कहना नहीं रह गया। उन्होंने दुःख की बात विस्तारपूर्वक कहने का अवसर ही नहीं पाया तथा दुःख-निवृत्ति के लिए प्रार्थना भी स्पष्टभाव से नहीं कर पाये। अथवा उनका उद्देश्य पूर्ण हो गया। क्योंकि जिन्हें वे दुःख बताते उन्होंने स्वयं ही दुःख को जान लिया और उस दुःख के उपचार की प्रार्थना न करने पर भी स्वयं ही दुःख के उपशम की व्यवस्था कर दी। दैवानुग्रह इसी प्रकार होता है। इसके बाद हम अनेक क्षण उस स्थान पर रहकर नाना विषयों की आलोचना करते रहे। उन सब को यहाँ अप्रासङ्गिक समझकर उनका वर्णन प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ।

बाबा दीक्षा भी देते थे। उनकी दीक्षा-प्रणाली यद्यपि शास्त्रीय प्रणाली से किसी अंश में पृथक् नहीं थी तथापि यह कहना ही होगा कि साधारण गुरुकरण की पद्धति से वह किसी-किसी विषय में वैशिष्ट्य-सम्पन्न थी। शिष्य की रुचि एवं प्रवृत्ति लक्ष्य करके ही वे इष्ट निरूपण करते थे, किन्तु उसकी बाह्य प्रकृति अथवा प्रवृत्ति की ओर वे दृक्पात नहीं करते थे। वे उसकी आभ्यन्तरीण प्रकृति लक्ष्य करके उसके इष्ट विचार और साधन-मार्ग का निर्णय करते थे। इस सम्बन्ध में एक घटना मुझे मालूम है। एक भद्र पुरुष तब काशी में रहकर कुछ-कुछ भजन-साधन करते थे। उनका घर था बंगदेश, २४ परगना के अन्तर्गत खड़दह ग्राम में, ये काशी में आकर स्थानीय हरिनाम प्रदायिनी सभा से संश्लिष्ट हुए। उस संसर्ग के फलस्वरूप उनके हृदय में वैष्णवभाव का उन्मेष हुआ तथा श्रीकृष्ण की

वृन्दावन-लीला के प्रति आकर्षण हुआ। नाम-कीर्तन करना, लीला-कीर्तन श्रवण करना, श्रीमद्भागवत पाठ करना, उनके दैनन्दिन कार्य के अन्तर्गत थे। किसी सूत्र से इनका बाबा के साथ परिचय हुआ। बाबा के दर्शन के बाद से ही वे नियमित भाव से उनका सत्संग करने की चेष्टा करते तथा बीच-बीच में उनकी उपदेश-वाणी का श्रवण करते। वे बाबा के व्यक्तित्व से तथा साधन-वैभव से इतना मुग्ध हो गये कि वे कुछ दिन बाद बाबा के निकट दीक्षा ग्रहण करके उनके श्रीचरणों में आत्मसमर्पण करने के लिए दृढ़ संकल्प हुए। एक दिन संकोच के साथ उन्होंने अपने प्राण की आकांक्षा का निवेदन किया।

बाबा उनकी प्रार्थना सुनकर उनसे बोले, "यदि उनकी एकान्त इच्छा हो चुकी है तो एक शुभ दिन देखकर उसकी व्यवस्था की जायगी। वे और भी बोले, शुद्ध संयत भाव से जीवन-यापन करने पर सुफल लाभ अवश्यंभावी है।" वे आनन्द से उत्फुल्ल होकर शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगे। तत्पश्चात् एक दिन कथा प्रसंग में बाबा ने कहा, "शक्तिमन्त्र तुम्हारा इष्ट है। जगज्जननी महाशक्ति की मातृभाव से उपासना करके ही तुम्हें साधन-क्षेत्र में अग्रसर होना होगा। अभी से उसके लिए प्रस्तुत हो जाओ—स्वयं सन्तान होकर जगज्जननी को प्रत्यक्ष अनुभव करने की अभिलाषा करो तथा समग्र रमणी मूर्ति में ही उस परम मातृशक्ति को देखने का अभ्यास करो।"

महापुरुष का वाक्य सुनकर भद्र जन घर लौट आये, तभी से उनके मन में एक विचित्र आन्दोलन उपस्थित हुआ। वे वैष्णवभाव से भावित थे, किन्तु बाबा उन्हें शाक्तभाव में दीक्षा देंगे, यह जानकर उनके मन में घोर संशय उपस्थित हुआ। उनका विश्वास था—बाबा अन्तर्यामी हैं। किन्तु उनके मन में हुआ, उनके अन्तर का भाव शक्ति-साधना के अनुकूल नहीं, उसे बाबा नहीं समझ सके।

इसके बाद से ही बाबा के प्रति उनकी श्रद्धा अनेकांश में शिथिल हो उठी। उन्होंने सोचा, जिनकी अन्तर्दृष्टि नहीं उन्हें महापुरुष समझा नहीं जा सकता, उनके समीप दीक्षा लेना भी निष्फल है। इसके बाद से वे

ही फिर नहीं गये और उनकी प्रस्तावित दीक्षा भी अनिर्दिष्ट काल के लिए स्थगित हो गयी। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। उनका काशीवास समाप्त होने पर वे घर लौट गये। घर लौटने के बाद उनकी जीवन-यात्रा की प्रणाली परिवर्तित हो गयो। हरि-सभा के संसर्ग से उनके चित्त में जिस भाव का उच्छ्वास उठा था वह शान्त हो गया।

देश पर रहते हुए वे कठिन रोग की यन्त्रणा से पीड़ित हो गये। धीरे-धीरे रोग दुःसाध्य हो गया तथा उसके साथ वेदना की मात्रा भी बढ़ गयी। एक दिन महानिशा के समय रुग्ण-शय्या पर शायित अवस्था में उन्होंने हठात् देखा—एक ज्योतिर्मयी मातृमूर्ति उनके सिरहाने खड़ी हो गयी। मूर्ति से अपार करुणा मानो फूट पड़ रही थी। इस दर्शन के बाद से ही उनका रोग शान्त हो गया और कुछ दिन के मध्य ही वे स्वस्थ हो गये। इस घटना के बाद उन्हें लगा—उन्होंने भयानक अपराध किया है और उसके दण्डरूप में उन्हें यह यन्त्रणा भोग करनी पड़ी है। बाबाजी के प्रति अश्रद्धा का उदय ही उन्हें अपराध लगा। तब वे समझ सके कि उनकी अन्तःप्रकृति शाक्तभाव के अनुकूल है। इसी कारण ही उन्होंने दुःख के समय अपने इष्ट का दर्शन किया है और दर्शन के फल-स्वरूप ही उनका समग्र दुःख शान्त हुआ है। सोचा, काशी में अवस्थान के समय उनके मन में जिस भाव का उदय हुआ था वह स्वाभाविक नहीं था, वह सङ्ग के प्रभाव से दिखायी दिया था। तब उनके मन में हुआ, बाबाजी ने जो कहा था वह ठीक ही है। वे अपनी अन्तःप्रकृति की प्रकृत प्रवणता को नहीं समझ सके, किन्तु उन्होंने विशुद्ध अन्तर्दृष्टि के साहाय्य से उसे देख लिया था। इसके बाद वह फिर काशी आये और बाबा के दर्शन करके उनसे अपने अविश्वासजनित अपराध की क्षमा-प्रार्थना की। सुना है, वे सज्जन बाबा से शाक्तमन्त्र में दीक्षा ग्रहण करके साधन-पथ में अग्रसर हुए।

बाबा कहते, "विश्वास को छोड़कर केवल युक्तितर्क के द्वारा साधक के लिए आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होना सम्भव नहीं।" वे कहते, "विश्वास के बल से सब कुछ हो सकता है। जो लौकिक दृष्टि से असम्भव

प्रतीत होता है, विश्वास के बल से वह भी संघटित हो सकता है। किस प्रकार किस शक्ति द्वारा कौन कार्य साधित हुआ उसे मनुष्य समझ नहीं पाता।" एक घटना सुनाता हूँ—बहुत दिन पहले एक लड़का मैट्रिक क्लास में पढ़ता था, किन्तु वह संस्कृत थोड़ा भी नहीं जानता था, यहाँ तक कि देवनागरी अक्षर भी नहीं पहचानता था। मेरे प्रति उसकी अत्यन्त श्रद्धा थी। मैं उससे पढ़ने के लिए कहता किन्तु संस्कृत पढ़ने में उसकी थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं हुई। परीक्षा के पहले उससे विशेष रूप से संस्कृत पढ़ने के लिए मैंने कहा, किन्तु वह बोला कि मेरी कृपा से वह न पढ़ने पर भी पास हो जायगा ही। तब मैंने कहा—"अच्छा, यह पुस्तक खोलने पर पहले ही जो पृष्ठ सामने आयेगा उसे ही ठीक से तैयार करने पर पास हो जाओगे। पुस्तक खोली गयी, किन्तु वह देवनागरी अक्षर पढ़ नहीं पाता था तो मैंने बंगला अक्षर में श्लोकादि लिख दिया और वही पृष्ठ उसे अच्छी तरह से पढ़ाया। आश्चर्य की बात यह है कि परीक्षा के पत्र में उसी पृष्ठ से प्रश्न आया तथा वह तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ।"

बाबा ने इस प्रकार की और एक घटना की बात कही थी। वह लड़का एफ० ए० में पढ़ता था। वह कुछ भी नहीं पढ़ता था किन्तु उसे विश्वास था कि बाबा के आशीर्वाद से कुछ न पढ़कर भी वह पास कर जायगा—वस्तुतः हुआ भी वही।

वास्तविक रूप से, विश्वास होने पर असम्भव भी सम्भव होता है, यह सत्य है। उनके एक भक्त कलकत्ता की म्युनिसिपैलिटी के इंजीनियर थे। वेतन था ५०० रु० से ऊपर। पहले वह काश्मीर में काम करते थे। उनकी माँ को हृद्‌रोग था। उस समय उस रोग की अवस्था भी अत्यन्त सङ्कटापन्न हो गयी थी। एक दिन उनकी माँ ने अत्यन्त दुःख और आग्रह के साथ बाबा से कहा, "बाबा, मेरी तो यही हालत है, मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं मरने से पहले कुछ तीर्थ-स्थानों के दर्शन कर लूँ।"

बाबा ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, "अच्छा, मैं आपको तीर्थ-दर्शन कराऊँगा। किन्तु मैं जिस-जिस स्थान पर जिस-जिस दृश्य को देखने का निर्देश करूँगा, आप केवल उसे ही देखेंगी, उसके अतिरिक्त कुछ

भी न देखेंगी। मेरे कथनानुसार चलने पर आप बिना आशङ्का के सब देख लेंगी, अन्यथा कष्ट प्राप्त होगा।" वे बाबा का आदेश मान गयीं और यथासमय यात्रा के लिए निकल पड़ीं, किन्तु उनके आदेशानुसार चलेंगी यह वचन देकर भी ठीक-ठीक उसकी रक्षा नहीं कर पायीं। उनका धर्म-विश्वास अत्यन्त बलवान् था। इसलिए किसी स्थान पर जाने पर वहाँ की सभी चीजें देखने के लिए उनका आग्रह होता और उस स्थान का सब कुछ देखे बिना नहीं लौट पातीं। अन्त में बाबा के निर्देश के विरुद्ध अपनी इच्छा से जब गिरनार पहाड़ पर चढ़ने लगीं उस समय हठात् उनके हृत्प्रदेश में भयानक स्पन्दन आरम्भ हुआ। क्रम से ऐसी अवस्था हो गयी कि और चढ़ नहीं पायीं फिर उतर आयीं और वह क्षमता नहीं रही। उनके मन में होने लगा, मृत्यु अनिवार्य है। तब आकुल भाव से अत्यन्त उत्कण्ठित होकर बाबा को मन-ही-मन स्मरण करने लगीं। उनकी आकांक्षा तथा तदनुसार बाबा की प्रतिज्ञा थी कि बाबा उन्हें काशी में देहत्याग करायेंगे। किन्तु इस समय की परिस्थिति में वह होने की सम्भावना न देखकर वृद्धा अत्यन्त कातरभाव से बाबा का स्मरण करने लगीं। एक सज्जन तभी हठात् वहाँ उपस्थित होकर उन्हें आश्वासन देने लगे।

उनकी आकृति ठीक बाबा के अनुरूप थी। उन्होंने बिलकुल सोच लिया कि बाबा ही उनकी सहायता के लिए वहाँ पहुँच गये हैं। उन्होंने उन्हें गोद में उठा लिया, वहाँ एक-एक करके सब कुछ दिखाया और बाद में धीरे-धीरे नीचे ला दिया। उन आगन्तुक सज्जन के स्पर्श से वृद्धा के वक्ष की धड़कन कम हो गयी तथा वे स्वस्थ हो गयीं। वृद्धा निर्दिष्ट समय में निरापद कलकत्ता पहुँच आयीं। इस घटना का वर्णन करके बाबा बोले—"इसका प्रकृत रहस्य क्या है? इसका तात्पर्य यह है, भगवान् विश्वरूप हैं—उनका जो भक्त उन्हें जिस रूप में दर्शन करने की इच्छा करता है उसी रूप में ही उसे दर्शन देकर चरितार्थ करते हैं। गुरु को ईश्वर ज्ञान करना ही शास्त्र का उपदेश है। वृद्धा ने वही किया।

मैं तो पाषाण हूँ; किन्तु पाषाण में भी भक्ति के प्रभाव से श्रीभगवान् की अभिव्यक्ति होती है।"

इसके बाद वह वृद्धा काशी आने के लिए व्यग्र हुईं। किन्तु डॉ० आर० एल० दत्त और उनके पुत्र के जामाता बोले कि, काशी जाना तो दूर की बात है—ऊपर तले से नीचे आने से ही उनके प्राणवियोग होने की सम्भावना है। तभी अनुमति के लिए तार दिया गया। बाबा तब सोनारपुरा में रहते थे। उन्होंने उत्तर दिया—"कोई कुछ कहे, कोई डर नहीं, चली आओ।" तब अदम्य उत्साह से ऊपर से वे नीचे आयीं, कोई कष्ट नहीं हुआ। वृद्धा को काशी लाया गया, पथ में कोई विघ्न नहीं हुआ। पथ में किसी स्थान पर उन्होंने जल ग्रहण तक नहीं किया। किन्तु उससे भी उनकी कोई क्षति नहीं हुई। वे लोग राजघाट या काशी स्टेशन पर उतरकर नौका के योग से केदारघाट पहुँचे। अभिप्राय: था, यहाँ से खोज-खोजकर बाबा के आवास-स्थान का सन्धान प्राप्त होगा। उस दिन बाबा दैवक्रम से नौका करके वरुणा सङ्गम पर स्नान करने गये थे। वहाँ से लौंटते समय उन्हें दीख पड़े। सभी लोग तब आनन्द से विभोर हो उठे। क्या आश्चर्य है! लगा, भगवान् ही मानो बाबा को उस दिन ले गये थे, अन्यथा उन्हें खोज पाना उनके लिए कष्टकर होता। वृद्धा ने लड़कों के बहुत कहने पर भी बाबा के दर्शन न करने तक जल ग्रहण नहीं किया। जो हो, उस वृद्धा के दो पुत्रों ने बाबा से दीक्षा ग्रहण की तथा उन्होंने स्वयं उनसे पूर्वगृहीत मन्त्र का संस्कार कराया। उस वृद्धा ने यथासमय चेतना की स्थिति में काशीलाभ किया।

बाबाजी कहते थे, "जिसे देखकर ही मेरी सहानुभूति होती है, पहले से ही जिसके प्रति मेरा हृदय आकृष्ट होता है, उसे मैं ठीक कर पाऊँगा ऐसा विश्वास होता है। किन्तु अनेक बार किसो व्यक्ति को देखकर एक विरुद्ध भाव का उदय होता है। अवश्य बिना कारण ही यह होता है। तब लगता है, मेरे द्वारा उसका कोई उपकार नहीं होगा।"......

अनेक समय मन की अवस्था ऐसी होती है कि......समय के प्रभाव से चित्तवृत्ति का इस प्रकार परिवर्तन होता है, किन्तु मूल में एक अचिन्त्य

शक्ति का व्यापार रहता है। सबको समभाव से प्रेम करना चाहने पर भी नहीं हो सकता। अवश्य ही मैं यह बात अपने सम्बन्ध में कहता हूँ। मैं लोगों से दीनता नहीं चाहता। मुझे खूब प्रणति दिखाने पर ही मैं बहुत सन्तुष्ट होता हूँ, ऐसा भी नहीं।

मैं चाहता हूँ, आदमी अधिक हँसकर बात करे, अधिक सदानन्द और प्रफुल्ल रहे, वही मुझे अच्छा लगता है।........

जो मुझे प्राण से प्रेम करता है और भक्ति करता है वह मुझे अच्छा लगता है। इस प्रकार......

बावाजी कभी-कभी पाश्चात्त्य वैज्ञानिक दृष्टि की अत्यन्त प्रशंसा करते तथा शास्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध न होने पर उसके द्वारा उस सिद्धान्त का समर्थन करने की चेष्टा करते। किन्तु कभी-कभी वैज्ञानिक दृष्टि आर्ष सिद्धान्त से विरुद्ध प्रतीत होने पर उसकी तीव्र समालोचना करने में भी वे इतस्ततः नहीं करते। वे ऋषिगण को अभ्रान्त समझते थे तथा ऋषिगण के सिद्धान्त में प्रकृत विरोध है, ऐसा कभी स्वीकार नहीं करते थे। विभिन्न ऋषि अथवा मुनि का जो मतभेद दिखायी देता है उसके मूल में अधिकार भेद है, ऐसा वे मानते थे। साधारण दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक के ज्ञान को वे अभ्रान्त कहकर स्वीकार नहीं करते थे। यदि आर्ष ज्ञान के साथ लौकिक पुरुष के ज्ञान का किसी प्रकार विरोध नहीं है तब उसे आदर करते तथा सत्य समझकर ग्रहण करते। लौकिक ज्ञान की प्रामाणिकता वे आपेक्षिक कहकर अस्वीकार करते थे। वे कहते थे, ऋषिगण ऋतम्भरा प्रज्ञा-सम्पन्न थे—उन्होंने जो प्रत्यक्ष ज्ञान-लाभ किया है उसमें किसी भ्रान्ति का संसर्ग नहीं।

निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप जिस प्रज्ञा का उदय होता है उसमें विकल्प का संभ्रव नहीं रहता—वही पर-प्रत्यक्ष है। किन्तु यह ज्ञान विकल्परहित होने से भ्रम-प्रमादादि शून्य होने पर भी उसे किसी पर संचार नहीं करते। अवश्य सद्गुरु शिष्य को लौकिक उपदेश दिये बिना भी उसमें ज्ञान का सञ्चार कर सकते हैं, यह पृथक् बात है। किन्तु व्यवहार-भूमि में उक्त समाधि-

लब्ध ज्ञान का दान अथवा प्रचार करना हो तो 'शब्द' का आश्रय-ग्रहण अनिवार्य है। ज्ञान का विषय, अर्थ या वस्तु है, वाचक शब्द का वाच्य भी अर्थ या वस्तु है। अर्थविषयक ज्ञान को अन्यत्र संचार करना हो तो उस अर्थ के वाचक शब्द को आश्रय करके ही साधारणतः वह करते हैं। हम केवल शब्दशक्ति के एक ओर की बात कहते हैं। श्रोता यह शब्द श्रवण करके यथार्थ ज्ञान-लाभ करता है। किन्तु समझना होगा, जो ज्ञान मूल वक्ता के हृदय में विराजमान है वह आपेक्षिक दृष्टि से विकल्पहीन तथा शुद्ध है, किन्तु जो ज्ञान श्रोता-प्राप्त है वह अभिन्न ज्ञान होने पर भी उसमें विकल्प का संश्रव वर्तमान रहता है, क्योंकि वह शब्द को वाहन बनाकर संचारित हुआ है। श्रोता कौशलपूर्वक उस शब्दांश को परित्याग करके विशुद्ध ज्ञान को ग्रहण करने की चेष्टा करता है। किन्तु ऐसा होने पर भी समाधिजात प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इस ज्ञान का साम्य नहीं है। एक विशुद्ध है तथा अपर शुद्ध होने पर भी पूर्णतया शुद्ध नहीं है।

ऋषिगण जो शास्त्र-रचना कर गये हैं अथवा जो उपदेश निबद्ध किये हैं वह अधिकांश स्थल में साक्षात्कारात्मक ज्ञान का ही विकल्पात्मक प्रकाश मात्र है। अर्थात् उन्होंने मन के ऊर्ध्व स्तर से ज्ञान को धारण करके मन के साहाय्य से विकल्प का अवलम्बनपूर्वक जगत् में प्रचार किया है। किन्तु लौकिक पुरुष का ज्ञान विचारादिमूलक होने से आनुमानिक और अवस्था विशेष में प्रत्यक्ष रूप होने पर भी वह लौकिक प्रत्यक्ष मात्र है, उसमें विकल्प का वीज रह ही जाता है। सुतरां जिस ज्ञान को उन्होंने उपदेश रूप में निवद्ध किया है वह मूल में विशुद्ध ज्ञान नहीं है। बाबाजी इस प्रसंग में वेदान्तविद् मधुसूदन सरस्वती की बात जिनका 'प्रस्थान-भेद' नामक छोटा ग्रन्थ उन्होंने लिख रखा था, प्रायः निकालकर समझाते थे। 'प्रस्थान भेद' कोई पृथक् पुस्तक नहीं, वह पुष्पदन्तकृत शिवमहिम्नःस्तोत्र की मधुसूदनकृत व्याख्या का एक अंशमात्र है। "त्रयी सांख्यंयोगः" स्तोत्रस्थित इस श्लोक की मधुसूदनकृत व्याख्या से 'प्रस्थान भेद' नाम देकर बहुतों ने पृथक् रूप से मुद्रित कर रखा है। उस ग्रन्थ का "न हिते मुनयो भ्रान्ताः, सर्वज्ञत्वात् तेषाम्" इत्यादि अंश उनका अत्यन्त प्रिय था।

इसी कारण वर्तमान समय के किसी-किसी प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता को भी वे श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे। जो लोग वर्तमान विज्ञान के साथ वेद का सामञ्जस्य करने को चेष्टा करते उनकी ओर वे प्रकृत व्याख्याकर्ता समझकर ध्यान नहीं देते थे। वे कहते थे, वर्तमान विज्ञान अग्रगतिशील है, वर्तमान समय में उसका जो सिद्धान्त उपादेय प्रतीत होता है—अग्र-गति के फलस्वरूप सत्य की व्यापकतर मूर्ति का साक्षात्कार होने पर वह सिद्धान्त फिर उपादेय नहीं रहेगा। विज्ञान का सिद्धान्त क्रमविकास नियम के अधीन है, किन्तु आर्षज्ञान क्रमविकास की नीति से चिरमुक्त है, क्योंकि उसका परिवर्तन नहीं हो पाता।

यहाँ तक जो लिखा गया उससे समझना होगा कि, वे ऋषिगण के उनके अवलम्बित साधन तथा सिद्धान्त के एकान्त पक्षपाती थे। यह पक्षपातित्व कितना उनके पक्ष में स्वाभाविक था उसमें सन्देह नहीं, किन्तु अधिक मात्रा में यह उन्हें उनके गुरुदेव की कृपा तथा अपने अलौकिक साधन प्रभाव से प्राप्त हुआ था।

बाबाजी जीवन्मुक्त पुरुष थे, यही अनेक का विश्वास था। बहुत दूर स्थानों से विभिन्न सम्प्रदाय के उच्चाङ्ग के विभिन्न साधक उनके निकट सदुपदेश के लिए उपस्थित होते थे। यति, संन्यासी, अवधूत, योगी, कर्मी, भक्त अनेक ही उनके निकट आते थे। सभी को उनसे अपनी-अपनी समस्या का प्रकृत समाधान प्राप्त होता था। सभी सम्प्रदाय को वे अपना समझते थे तथा सबको यथायोग्य उपदेश-दान करते थे। गृहस्थ के निकट संन्यासी का ज्ञानलिप्सा से आगमन अपूर्व है, सन्देह नहीं। किन्तु जनक और शुकदेव की किंवदन्ती इस देश में अब भी जागरूक रही। कुछ दिन पूर्व ही काशीनिवासी श्री श्यामाचरण लाहिड़ी के सान्निध्य में बहुसंख्यक जिज्ञासु तथा साधनप्रार्थी संन्यासियों की भीड़ प्रायः हमेशा ही लगी रहती थी।

मेरे व्यक्तिगत जीवन पर बाबाजी का जो कुछ प्रभाव पड़ा आज उसे ठीक-ठीक निर्देश करना सहज नहीं, तब भी उनके साथ मेरा सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। उसे मैं मुक्तकण्ठ से स्वीकार करूँगा। उनकी

कृपा से अनेक बार अलौकिक भाव से मैंने दैहिक रोग से मुक्ति पायी है। उनकी अयाचित करुणा का प्रतिदान मैं दे नहीं सकता तथा कभी दे नहीं सकूँगा। बुद्धि-संक्रान्त ज्ञान के क्षेत्र में उनका साहाय्य अतुलनीय है—केवल उनके ज्ञानमय जीवन का आदर्श नहीं, साक्षात् भाव से भी वे बहुत ज्ञान इस आधार में संचरित कर चुके हैं। उनका आदर्श-जीवन, पवित्र हृदय, अमायिक स्वभाव तथा कर्म में प्रतिष्ठित ज्ञानभक्ति का अपूर्व समन्वय मेरे प्रथम यौवन को मुग्ध कर चुका था। बुद्धि को छोड़कर अध्यात्म के क्षेत्र में उनका अवदान मैं नत शिर से स्वीकार करने के लिए बाध्य हूँ। जब उनका शेष दर्शन पाया तब कुछ दिन बाद ही उन्हें किसी विशेष कारण से काशीधाम त्याग करके बङ्गदेश लौट जाना पड़ा था। काशी-धाम त्याग करने की उनकी इच्छा नहीं थी, किन्तु नियति के विपाक से उन्हें बाध्य होकर श्रीकाशी को छोड़ना पड़ा। अवश्य ज्ञानी के लिए सर्वत्र ही श्रीकाशी है—यह ठीक है, तथापि यह महाक्षेत्र त्याग करने के समय उनके हृदय में जो व्यथा हुई, आज भी मुझे वह स्पर्श कर जाती है। उन्होंने कलकत्ता के सन्निकट गंगातट पर तब से कुछ वर्ष अतिवाहित किये थे। इस समय उनकी कोई-कोई नवीन रचना प्रकाशित हुई थी। तत्पश्चात् पहले से आयोजन करके स्वेच्छा क्रम से नित्य साकेतधाम में उन्होंने प्रयाण किया। उनका वह उज्ज्वल गौरवर्ण हेमकान्त शरीर, प्रज्ञा और करुणामिश्रित अपूर्व स्निग्ध दृष्टि, आजानुलम्बित बाहु, कण्ठ में रुद्राक्ष-माला की शोभा, आसनबद्ध चरण-युगल आज भी उनके भक्तगण की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख ध्येय रूप में जाग पड़ते हैं।

●

५

पागल साधु

प्रायः ३३ वर्ष पूर्व शीतकाल में सन्ध्या के समय इनका प्रथम दर्शन मुझे प्राप्त हुआ था। श्री हरिप्रसाद विद्यान्त महाशय इस प्रदेश के सुपरिण्टेण्डिङ्ग इंजीनियर थे। वे कार्य से अवसर ग्रहण करने के पश्चात् काशी में ही स्थायीभाव से वास करते थे। काशी में उनका अपना घर था तथा इसके अतिरिक्त उनकी नाना प्रकार की प्रसिद्धि भी थी। वे अतिशय वदान्य, धर्मप्राण, सरल तथा अमायिक प्रकृति के व्यक्ति थे। साधु और सत्पुरुष के दर्शन और सङ्गलाभ करने का संस्कार उनका बाल्यकाल से ही था। काशी में आकर रहने के समय किसी सूत्र से मुझसे उनका परिचय हुआ। उसके बाद से वे प्रायः प्रतिदिन ही मेरे निकट आते तथा अनेक क्षण हमारे बीच सत्प्रसङ्ग चलता। इस प्रसङ्ग के समय कभी-कभी अनेक भद्रजन उपस्थित रहते, तो कभी वे अकेले रहते। कुछेक वर्ष इस प्रकार अतिवाहित हुए।

एक दिन विद्यान्त महाशय ने पागल साधु के बारे में संवाद दिया। उन्होंने भी थोड़े समय पूर्व ही इन महात्मा का दर्शन-लाभ किया था तथा इनके दर्शन करने से उनके मन में विशिष्ट श्रद्धा का भाव जाग उठा था। किन्तु महात्मा का वैशिष्टय-वर्णन करने में असमर्थ होकर उन्होंने एक दिन मेरे निकट साधु का नाम लेते हुए उनका परिचय दिया। उनकी इच्छा थी, मुझे साथ लेकर साधुबावा के निकट जायँगे तथा मेरे समक्ष उनके साथ धर्मतत्त्व की आलोचना करेंगे। यद्यपि साधु हमारी प्रचलित साधु-मण्डली के आदर्श के ठीक अनुरूप नहीं थे, तथापि विद्यान्त महाशय समझते थे कि उनमें ऐसी एक असाधारणता है जो साधारण साधु-वर्ग में लक्षित नहीं होती। उनके अपरिसीम ज्ञान का परिचय पाकर वे स्तम्भित हो चुके थे।

जिस दिन उन्होंने साधु की चर्चा मुझसे की, मैंने उसी दिन उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। साधु को पूर्वसूचना देना है या नहीं, इस कारण किसी प्रकार की असुविधा हो सकती है, ऐसा मैंने नहीं सोचा। क्योंकि मैंने सोचा, इस समय हमें दर्शन-लाभ यदि न भी हुआ तो भी उनका आवास-स्थान देख लेंगे। ऐसा सोचकर मैंने विद्यान्त महाशय से तभी जाने का अनुरोध किया, क्योंकि शुभ कार्य में विलम्ब उचित नहीं। यह दिसम्बर मास की घटना है। हम दोनों ही साधु के तत्कालीन आवास-स्थान पर जा पहुँचे तथा विद्यान्त महाशय ने साधु के दर्शन के पश्चात् उन्हें मेरा परिचय प्रदान किया। मैं निकट ही एक निर्दिष्ट स्थान पर बैठकर साधु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ क्षण के बाद ही साधु भीतर से बाहर आये और हम जहाँ बैठे थे, वहीं आकर निकट ही बैठ गये। महात्मा को देखकर प्रचलित साधु जैसा साधु कहना ठीक नहीं लगा, क्योंकि वे कभी साधु का वेश धारण नहीं करते थे। उनके परिधान में था साधारण श्वेत वस्त्र। वह भी जानु-पर्यन्त निबद्ध था। गले में माला नहीं थी, मस्तक पर जटा नहीं थी अथवा मस्तक मुण्डित भी नहीं था। मस्तक पर रूक्ष केश-जाल अस्त-व्यस्त रूप से खुला था। देखकर लगा, ये कभी भी तेल का व्यवहार नहीं करते। देह भी रूक्ष थी, अवस्था पचास के ऊपर लगती थी। उनकी आकृति में सर्वप्रधान आकर्षक थीं आँखें। दोनों आँखों में एक अपार्थिव तेज लक्षित होता था, दोनों आँखें मानो मदभरी थीं अन्दर-अन्दर से सजग थीं—दृष्टि थी अन्तर्भेदी। वे बैठे और हमसे कुशल संवाद की जिज्ञासा करके हमारे आगमन के कारण की जिज्ञासा की। उनके प्रश्न सुनकर बन्धुवर विद्यान्त महाशय ने मेरी ओर इशारा करके उनके साथ आलोचना करने का अनुरोध किया। तदनुसार मैंने भी निःसङ्कोच उनसे बातें करना आरम्भ किया। मैंने उनसे कहा—"आपका नाम सुनकर आपके दर्शन के लिए आया हूँ। सुना है, आपको बहुत प्रकार के विज्ञान के रहस्य अवगत हैं। उसके अतिरिक्त अध्यात्म-साधन के रहस्य के सम्बन्ध में भी दो-चार प्रश्न करने की मेरी इच्छा है। यदि आप अनुमति दें तो आपसे दो-एक प्रश्न करूँगा।"

महात्मा बोले—"आप इच्छानुसार जो भी जिज्ञासा करेंगे, मैं यथा-शक्ति उत्तर दूँगा।"

मैंने जिज्ञासा की—"आप साधन-पथ में तीर्थयात्री के समान अग्रसर हुए हैं—इस पथ में बहुत प्रकार के दृश्य देखें होंगे, किन्तु प्रकृत लक्ष्य प्राप्त हुआ ऐसा लगा क्या ?"

तब महात्मा बोले–"साधन-पथ में चलते-चलते रास्ते में अनेक वस्तुओं का दर्शन हुआ; फिर बीच-बीच में सब दर्शन मिट भी गया। साधना का प्रकृत लक्ष्य भगवत्-प्राप्ति है, वह अति कठिन तथा दुरूह विषय है। यह लक्ष्य अभी मुझे प्राप्त हुआ, ऐसा मैं नहीं सोच सकता। साधना का प्रकृत लक्ष्य जो निरञ्जन ज्योति है, वह आज तक एकमात्र परमेश्वर को ही प्राप्त हुई है, और कोई उसे लाभ नहीं कर सका है। देखिए, हम जिस स्तर में रहते हैं वह ग्रह का स्तर है। इस स्तर से उत्थित होकर सूर्य-मण्डल में प्रवेश करना होता है, यह सूर्य जगत्-सूर्य के नाम से प्रसिद्ध है।"

"यह समष्टि भाव से एक होने पर भी व्यष्टि भाव से द्वादश भागों में विभक्त है। विभिन्न राशि के साथ संश्लिष्ट सूर्य का विभिन्न रूप है। आपलोग जो द्वादश आदित्य की बात कहते हैं वह बहुत ही सत्य है। इस जगत्-सूर्य का भेद कर पाने पर प्रणवरूपी सूर्य को प्राप्त होते हैं। प्रणवसूर्य बारह भागों में विभक्त है, इसलिए प्रणव भी व्यष्टिभाव से बारह ही है। प्रणव-सूर्य के ऊपर उत्थित होने पर बिन्दु में प्रवेश करने का अधिकार उत्पन्न होता है। इस बिन्दु का नाम ईश्वर-ज्योति है। बिन्दु-भेद कर पाने पर ईश्वर-ज्योति होते ही निर्मल, विशाल एक ज्योति का साक्षात्कार होता है। उसे ही मैं परमेश्वर की ज्योति कहता हूँ। किन्तु यह भी निरञ्जन ज्योति नहीं है। निरञ्जन ज्योति का सन्धान यहाँ से ही पाया जाता है। सुतरां एकमात्र परमेश्वर ही निरञ्जन ज्योति का सन्धान जानते हैं और कोई नहीं जानता। इस निरञ्जन ज्योति में स्थिति ही प्रकृत भगवत्स्थिति है। मैं अभी भी उसे प्राप्त नहीं हूँ।"

मैंने जिज्ञासा की—"आप जिस पथ में अग्रसर हुए हैं उस पथ में चलने से शून्य का दर्शन पाया जाता है क्या ?"

महात्मा हँसकर बोले—"निश्चय ही। एक-एक स्तर शेष होने पर ही उस पथ का शून्य दृष्टिपथ में पतित होता है। तब क्रियारुद्ध होने का उपक्रम होता है। क्योंकि शून्य-भेद भी क्रिया-सापेक्ष है। शून्य का भेद कर पाने पर फिर एक स्तर पाया जाता है फिर उस स्तर में उसके उपयोगी क्रिया का साक्षात्कार होता है। इस क्रिया के अवसान के साथ-साथ शून्य परिदृष्ट होता है। यह शून्य पूर्वापेक्षा अधिकतर व्यापक है। स्तर के अनुसार शून्य बहुत हैं।"

"सबसे अन्तिम शून्य—अनन्त शून्य नाम से परिचित है। महाशून्य का भी भेद किया जाता है। महाशून्य का भेद न करने पर परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु अनन्त शून्य का भेद अब तक किसी योगी या ज्ञानी ने किया है, ऐसा विश्वास नहीं करता हूँ। कारण, ऐसा होने पर जगत् की अवस्था अन्य रूप होती। इस अनन्त शून्य-भेद भिन्न निरञ्जन ज्योति का साक्षात्कार बड़ा कठिन है। एकमात्र परमेश्वर ही अनन्त के अन्त का दर्शन करने में समर्थ हैं और किसी के पक्ष में यह सम्भव नहीं। फिर भी स्वयं परमेश्वरत्वलाभ करने पर वह हो सकता है, किन्तु आज भी वह किसी का होता नहीं। मैंने आज भी महाशून्य का भेद करके अनन्त शून्यभेद की योग्यता का लाभ नहीं किया है। अभी अनन्त शून्य के इस पार ही बैठा हूँ, कभी भेद कर पाऊँगा कि नहीं, नहीं जानता।"

मैंने जिज्ञासा की—"सृष्टि की प्रक्रिया के सम्बन्ध में आपकी धारणा क्या है ? सृष्टि की लहर किस स्थान से उत्थित होती है तथा कैसे होती है ?"

महात्मा बोले—"देखिये, यह अति रहस्यमय विषय है। जिसे योगिगण 'कूल' कहते हैं, मैं उसे भावाकाश कहता हूँ। इस भावाकाश में भाव का दर्शन होता है, सृष्टि का व्यापार उसका परवर्ती है। सृष्टि के मूल में रहती है इच्छा। कारण, इच्छा के विना सृष्टि नहीं हो पाती। किन्तु यह इच्छा

काम भी हो सकती है अथवा प्रेम भी हो सकती है। काम से साधारण सृष्टि होती है—प्रेम से दिव्य सृष्टि होती है, दोनों ही सृष्टि के अन्तर्गत हैं। भावराशि के कम्पन-विशिष्ट—इच्छा के प्रभाव से भाव घनीभूत होकर बिन्दु का आकार धारण करता है। अवश्य कोई भी भाव बिन्दुरूप में संहत हो सकता है, बिन्दु-रचना सम्पन्न होने पर यह बिन्दु सञ्चारित होता है त्रिकोण में। इसका ही नामान्तर योनि है। यह बिन्दु मस्तक में, वक्षःस्थल में, नाभिमूल में अथवा लिङ्गमूल में प्रस्फुटित हो पाता है। तत्तत् स्थान से उपसर्ग के फलस्वरूप विभिन्न वर्ण की उपलब्धि हो सकती है। तात्त्विक दृष्टि से ब्राह्मणादि वर्ण-भेद का यह भी मूल कारण है। जब बिन्दु-रचना हुई तब फिर भाव नहीं रहा—भावशून्य हो गया, कम्पन निवृत्त हो गया। भाव और बिन्दु के बीच जो व्यवधान है उसी का नाम शून्य है। इस शून्य का भेद कर पाने पर भाव-कम्पन बिन्दुरूप में परिणति-लाभ करता है। बिन्दु में यह कम्पन निरुद्ध गति से वर्तमान रहता है। बाद में इस गति का विकास होता है, इसका नाम रेखा है—यह सरल रेखा है। इस गति के पूर्ण विकास प्राप्त होने पर फिर यह नहीं रह जायगी, यह शून्य रह जायगा। तब अक्षर का विकास होगा। बिन्दु एक, रेखा दो, वृत्त तीन 'क्रॉस' चार, इत्यादि—इस प्रकार दस मान या माप हैं। नौ के बाद ही शून्य के साथ दश होता है। बिन्दु क्षुब्ध होकर रेखा होती है, जैसे प्रदीप की प्रभा। रेखा सरल पथ पर चलते-चलते पृथ्वी के मध्याकर्षण से वक्र हो जाती है और वृत्त का आकार धारण करती है। वृत्त के पूर्ण रूप से गठित होते ही केन्द्र व्यक्त हो उठता है, तब केन्द्र के आकर्षण से व्यास होता है। आह्निक और वार्षिक गति से दो व्यास होते हैं और वे परस्पर झगड़ा करते हैं। दोनों का परस्पर योग-बिन्दु अर्थात् पूर्ववर्णित केन्द्र गुरुत्वाकार धारण करता है। इस प्रकार क्रमशः होता है। इन चार मानों पर विजय प्राप्त कर पाने पर शरीर मध्याकर्षण द्वारा आकृष्ट नहीं होता। तब वह प्राचीर, पहाड़-पर्वत सबको भेद कर पाता है।"

मैंने जिज्ञासा की—"आपने जो विभिन्न मानों की बात कही, सभी महापुरुषों ने क्या इन सब मानों को भेदा है ?"

वे बोले—"सबकी अग्रगति समान नहीं होती है। बुद्धदेव आठ मानों का लंघन करके नवम में जाकर आबद्ध हो गये थे। वे नवम को भेद नहीं सके। अनेक लोग आठ तक भी नहीं जा पाते।" वे और भी बोले—"यह जो शून्य की बात कहता हूँ, इसकी संख्या नहीं है। तब भी स्थूल रूप से तीन संख्या की बात कही जा सकती है—प्रथम शून्य या जातिगत शून्य है, द्वितीय महाशून्य, तृतीय अनन्त शून्य जिसकी बात पहले कही है। जहाँ एक गति का अवसान होता है वहीं शून्य है। वहीं बिन्दु रहता है। फिर गति प्राप्त होकर शून्य को भेदता है, उसे पूरा करने पर शून्य प्राप्त होता है। इस प्रकार समझना होगा।"

एक दिन पागल बाबा के साथ भक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध में आलोचना हुई। वे बोले—"जगत् में सर्वत्र भक्ति नाम से जिस वस्तु का प्रकार देख पाते हैं वह वास्तविक पक्ष में भक्ति नहीं है। उसे मैं भूतभक्ति या भौतिकभक्ति कहता हुँ। क्योंकि अज्ञान अवस्था न कटने तक भौतिक संस्कार के ऊपर नहीं उठा जाता तथा प्रकृत भक्ति-भाव प्राप्त नहीं किया जाता। मन और प्राण सहित 'मैं' नामक सत्ता को लेकर यदि एकभाव से भगवान् में गति और स्थिति की जाय तो भगवत्प्राप्ति सम्भव होती है। वस्तुतः अनन्तकाल की साधना के बिना यह नहीं हो पाता। भगवत्प्राप्ति के पथ में चलने पर सर्वप्रथम स्वभाव-प्रकृति के कर्तव्य कार्यों का समाधान करना होगा, क्योंकि ऐसा न होने पर ज्ञान-लाभ नहीं होगा। ज्ञान प्राप्त होने पर इस ज्ञान के द्वारा भक्ति अर्जन करनी होगी। तब वास्तव में भगवत्प्राप्ति की सम्भावना दिखायी देगी। इसके पूर्व भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठ पाता। शुद्ध भक्ति ही प्रकृत भक्ति है। यह शुद्ध भक्ति अज्ञान-निवृत्ति न हुए बिना नहीं पायी जाती। भगवान् के सृष्टिकार्य का रहस्य और अनन्त शक्ति का परिचय न पाने पर अहंभाव का नाश नहीं होता है। अहंभाव का नाश न होने पर शुद्ध भक्ति कहाँ से आयेगी ? शुद्ध भक्ति के बाद विशुद्ध भाव का उदय होता है, तब

भगवत्सत्ता की उपलब्धि स्वयं हो जाती है। भक्त का प्रकृत लक्षण यह है कि वह भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ नहीं जानता।"

भगवान् के अवतरण के सम्बन्ध में एक दिन बाबाजी प्रसङ्गतः बोले—"वास्तविक पक्ष में भगवान् का मर्त्यलोक में अवतरण कभी नहीं होता और हो भी नहीं सकता, क्योंकि वे षडैश्वर्यशाली और पूर्ण हैं। उनके पक्ष में ऊर्ध्वगति वा अधोगति कुछ भी सम्भव नहीं। जिन्हें शास्त्र में अवतार कहते हैं वह अन्य वस्तु है। अवतार सब नित्यसिद्ध अंश और कला रूप में ऊर्ध्व में विद्यमान थे। मर्त्यलोक का प्रयोजन होने पर वे ही उतर आये। साधारणतः उन्हीं को भगवान् का अवतार कहते हैं।"

एक दिन पुरुष और प्रकृति तत्त्व को लेकर बाबाजी ने अनेक आलोचनाएँ कीं। उनका सिद्धान्त यह है—"मन की अनेक अवस्थाएँ हैं—ये सब अवस्थाएँ मन की गति के ऊपर निर्भर करती हैं। जब मन को सब प्रकार की गति निरुद्ध हो जाती है, तब उसी को साधारणतः निरोध कहते हैं। मन का लय और निर्विकल्प समाधि इस अवस्था में ही होते हैं। प्रकृत प्रस्ताव में यह मन को पुरुषभाव की प्राप्ति मात्र है अर्थात् मन जब निष्क्रिय होता है तब समझना होगा, मन पुरुष-भावापन्न हुआ है, फिर मन जब क्रियाशील होता है तब समझना होगा कि मन प्रकृति भावापन्न हुआ है। यह जो पहले मन को निर्विकल्प समाधि में पुरुषभाव-प्राप्ति की बात कही है वह मन की चरम अवस्था नहीं है। उसके बाद इस पुरुषरूपी मन को प्रकृति बनाकर बार-बार गति देनी होगी, तब क्रियाशील होकर मन फिर-फिर चलता रहेगा।"

"यह इच्छा की भूमि है, निर्विकल्प अवस्था के पूर्व इच्छाशक्ति का जागरण नहीं हो पाता। किन्तु यह गति भी निरुद्ध हो जायगी तथा केन्द्र का विकास होगा। तब इच्छा फिर इच्छा नहीं रहेगी—इसका नाम इच्छा की पुरुषभाव-प्राप्ति है। तब इच्छा पूर्ण होकर इच्छा और अनिच्छा एक हो जाती है।"

बाबाजी कहते थे—"भावाकाश में भाव की छवि विद्यमान रहती है। भावाकाश हमारे भीतर भी है तथा बाहर भी है। बाह्य भावाकाश में

स्थित भाव के प्रभाव से वा योग से हमारे निज के भावाकाश में भाव की छवि व्यक्त हो उठती है। उसे ही भाव का विकास कहते हैं। यह विकास होने पर ज्योति का उदय होता है। ज्योति से नाद का उन्मेष होता है। नाद से सब प्रकार की प्रवृत्ति वा क्रिया का आविर्भाव होता है। नाद और क्रिया सृष्टि के अन्तर्गत है, ज्योति सृष्टि के अतीत है। ज्योति से सृष्टि होती है। जिस बल-प्रयोग से सृष्टि का आविर्भाव होता है उसकी अपेक्षा अधिकतर बल-प्रयोग न कर पाने पर ज्योति-भेद नहीं किया जा सकता है। ज्योति-भेद न कर पाने पर ज्योति में अथवा शून्य में डूब जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार तथाकथित निर्वाण-लाभ पूर्णत्व के पथ में वाञ्छनीय नहीं है, किन्तु वाञ्छनीय न होने पर भी असमर्थ के लिये अन्य कोई उपाय नहीं। इस ज्योति वा शून्य से अभिनव सृष्टि में फिर से बाहर होकर आना होता है। इस स्थान में नित्यस्थिति प्राप्त हो जाती है। समग्र जगत् की मुक्ति न होने तक अपनी यथार्थ मुक्ति-लाभ का कोई उपाय नहीं है।"

ज्ञान के प्रसङ्ग में वे कहते थे—"मैं ज्ञान को ही गुरु वा आत्मस्वरूप समझता हूँ। यह ज्ञान अर्थात् ज्ञान-ज्योति। इसके नीचे ज्ञानदर्शन नाम से एक अवस्था है। वह अवस्था प्राप्त होने पर अनेक साधक भ्रष्ट हो जाते हैं।"

मन को छोड़कर केवल ज्ञान द्वारा भी दर्शन हो सकता है; वह दर्शन तथा मन का दर्शन ठीक एक प्रकार का नहीं है। मन द्वारा स्वर्ग-दर्शन करने पर स्वयं पृथक् रूप में स्वर्ग का दर्शन होता है अर्थात् अपने बाहर के स्वर्ग की सत्ता दृष्ट होती है, किन्तु मन को छोड़कर स्वर्ग-दर्शन करने पर अर्थात् विशुद्ध ज्ञान के द्वारा स्वर्ग-दर्शन करने पर इस प्रकार अनुभूति होती है कि मैं ठीक स्वर्ग में ही हूँ, अर्थात् मन का दर्शन भेद-दर्शन है तथा ज्ञान का दर्शन अभेद-दर्शन—यही पार्थक्य है। इसके अतिरिक्त सात्त्विक आलोक से भी दर्शनादि हो सकते हैं, किन्तु यह और भी नीचे की वस्तु है। भविष्यद् दर्शनादि सात्त्विक आलोक में ही होते

हैं। साधारण दर्शनादि भी सात्त्विक आलोक में ही होते हैं, सन्देह नहीं, तब भी उसमें कुछ भेद है। सूर्यमण्डल से एक साथ सब कुछ देख पाते हैं—इसे भी सात्त्विक आलोक का दर्शन समझना होगा। ज्ञान के वाद ही निर्वाण वा महाशून्य है। निर्वाण अर्थात् वानहीन। वान कहने से समझना होगा गण्डी वा सीमा। गाण्डोव के पाँच वान वा सीमा हैं। ज्ञान भी एक गण्डिविशेष है, निर्वाण में वह भी नहीं रहता, क्योंकि ज्ञान पूरा न होने पर प्रकृत निर्वाण नहीं हो पाता। निर्वाण में डूब पाने पर एक अखण्डसत्ता का साक्षात्कार होता है, उसी का नाम भाव है। भाव से क्रमशः गति की सृष्टि होती है, भाव के अतिरिक्त वह उसी कारण निरञ्जन है। निर्वाण और निरञ्जन एक नहीं हैं, क्योंकि निर्वाण अभावात्मक है और निरञ्जन भावातीत है।"

"यह जो ज्योतिःस्वरूप गुरु की बात कही है, वही बिन्दु है। मनुष्य के मस्तक में बारह बिन्दु है। साधक की भाव-प्रकृति ठीक न होने पर बिन्दु के साथ योग नहीं होता। जिस बिन्दु के साथ योग होता है, तदनुरूप आनन्द-प्राप्ति होती है। भाव-प्रकृति को ठीक करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है भावकुण्डली की रचना करना। कुण्डली-रचना सम्पन्न होने पर इच्छानुसार वह कार्य में परिणत हो पाती है। सब काम ही इच्छामूलक होने पर भी चरम में अपनी-अपनी भाव-कुण्डली का ही विकास होता है। भाव-कुण्डली-रचना का मतलब ही जन्मग्रहण है। इसे प्रकृति ही ठीक कर देती है। प्रवर्तक अवस्था में तीन दशाएँ हैं। इस अवस्था के मूल में सभी प्रकृति का व्यापार है। इसके बाद साधना है। साधक को दश दशाओं के बीच से जाना होता है। उसके बाद सिद्ध अवस्था है। उसके भी अन्तर्गत भाव से नौ अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः ये नौ अवान्तर अवस्थाएँ नवग्रह के साथ संश्लिष्ट हैं, इसकी एक-एक अवस्था में एक-एक ग्रह का कार्य होता है। क्रमशः नौ ग्रह का कार्य ही सम्पूर्ण होने पर रवि, प्रणवसूर्य का स्पर्श करते हैं। तभी सिद्धि का आविर्भाव होता है। यही सिद्धावस्था है।

कुण्डली का परिवर्तन न कर पाने पर जीवन की धारा में परिवर्तन नहीं हो पाता। उपनयन अथवा दीक्षा के समय सद्गुरु कुण्डली को निकाल देते हैं। कुण्डली परिवर्तन के समय पूर्वसत्ता का अभाव होता है, इसी को मृत्यु कहते हैं। उसके बाद नवीन जन्म होता है, जिसे साधारणतः द्वितीय जन्म कहते हैं।"

"यह प्रणव अति दूर की वस्तु है, इसे प्राप्त करना हो तो विश्व-भेद करना होगा। किन्तु जब तक विश्व में प्रवेश नहीं होता तब तक विश्वभेद का कोई प्रश्न नहीं उठता। विश्व में प्रवेश करने पर उसके पूर्व जगत् को भेद करना होगा। यह जो जगत् हम निरन्तर देख पाते हैं, यह एक पुरुष का आकार है। हम अपनी देह से ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा अथवा आंशिक भाव से नाभि के द्वारा बाहर जा पाते हैं। बाहर जाने के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है। किन्तु अपने बाहर जाने पर भी जगत् के बाहर नहीं जा पाते हैं। हम जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वह जगत् जिस विराट् देह के अन्तर्गत है उस देह को भी भेद कर पाने पर जिस विश्व में प्रवेश करना सम्भव है। जगत् के बाद विश्व तथा विश्व के बाद प्रणव। इस प्रणव तक जाने पर सिद्धि होती है।"

"और एक बात। अनेक लोग विदेहस्थिति की बात कहते हैं। मेरे मन में होता है विदेह-अवस्था लाभ करना अत्यन्त कठिन है। राधाचक्र पार न हुए बिना विदेह नहीं हुआ जाता। किन्तु इसे पार होना अत्यन्त कठिन व्यापार है; यह अति भीषण तीव्र वेग से निरन्तर घूम रहा है। इसे पार कर पाने पर इसके मध्यस्थित छिद्र पथ से निर्गत होना होता है। नहीं तो वह अर्थात् तीव्र वेग-सम्पन्न चक्र. मन को खण्ड-खण्ड करके रख देता है। उसका फल जड़त्व है। आत्मा मन-संयोग से ही चेतन है—जहाँ मन नहीं वहाँ जड़त्व है, आत्मा की सत्ता रहने पर भी। राधाचक्र चेतन स्थान के ठीक ऊपर अर्थात् मस्तक के जिस स्थान पर शिखा रखते हैं, उसके सन्निकट है। इस स्थान से ही समस्त देह में चैतन्य का सञ्चार होता है।"

वे और भी बोले—"जहाँ सिर का खोखला भाग है, देह की समस्त गति समेट कर वहाँ ले जा सकें तो शवाधार होता है। वही वास्तव में श्मशान वा शवस्थान है। चैतन्य-शक्ति को बाहर करना हो तो देह को शवरूप में परिणत करना आवश्यक है।"

वे कहते—"तीर्थस्थान में अथवा किसी मन्दिर में देव-दर्शन के लिए जाते हुए देवता की चिन्ता करते-करते जाना होता है। ऐसा होने पर देह में नवीन बल का सञ्चार होता है। क्योंकि वे ही देह को खींच ले जाते हैं। इस खींचने का अनुभव तभी होता है जब उनकी चिन्ता करते-करते हम खाली हो जाते हैं। तब स्पष्ट समझ सकते हैं कि वे ही खींच रहे हैं।

६

सीतारामदास बाबाजी की कथा

बाबाजी सीतारामदास रामायत सम्प्रदाय के एक विशिष्ट और उन्नत भक्त थे। उन्होंने दीर्घकाल से चित्रकूट में मन्दाकिनी के तीर पर तथा अनुसूया प्रभृति स्थान में कठोर तपश्चर्या करके भगवान् का विशेष अनुग्रह-लाभ किया था। इनके एक विशिष्ट अनुरागी भक्त से इनकी अनुभूति के विषय में मै जान सका था। ये लोकत: विशिष्टाद्वैतवादी थे वैष्णव होने पर भी इनको अनुभूति के क्रम में कुछ वैलक्षण्य था। यद्यपि मैंने साक्षाद्भाव से इनका दर्शन और सङ्गलाभ करने का अवसर नहीं पाया तथापि मेरे एक विशिष्ट मित्र को इनके सम्बन्ध में अपने सङ्गजनित अनुभव-प्राप्त हुए थे, उसी से इन्हें विशिष्ट श्रेणी के अन्तर्गत महात्मा रूप में पहचान सका तथा स्थूल रूप से न होने पर भी अन्तराल अवस्था में इनका स्पर्श-लाभ नहीं किया, ऐसा नहीं है।

इन्होंने जो कुछ अनुभवगत वैशिष्टय-लाभ किया था वह साधन-मार्ग को अति ऊर्ध्वभूमि के सम्बन्ध में है। निम्न भूमि के साधन-क्षेत्र के सम्बन्ध में वे कोई वात नहीं करते थे। अर्थात् मनुष्य-देह में तत्त्व की आलोचना करते हुए इनमें तीन पृथक्-पृथक् खण्ड हैं, यह स्पष्ट समझा जा सकता है। वावाजी महाराज कहते थे, "मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त ६ चक्र हैं, यहाँ तक कि सहस्रार भी देह के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत है। इसके बाद व्यापक रूप से शून्य विराजमान है। इस शून्य का भेद कर पाने पर हो देह के द्वितीय खण्ड में प्रवेश किया जा सकता है। इस द्वितीय खण्ड के प्रवेश के साथ-साथ अति विशाल तेज:पुञ्ज का साक्षात्कार होता है। कोटि-कोटि सूर्य से भी इस तेज का प्रकाश अधिक है। अनेक साधक सहस्रार भेद करके क्या, उसके अतीत शून्य का भेद

करके, इस महातेज के बीच जाकर लीन हो जाते हैं, इसे भेद नहीं कर पाते हैं। इस तेज के भीतर प्रवेश करने पर जाना जाता है कि इसमें तीन पृथक्-पृथक् विभाग हैं। प्रथम विभाग का नाम 'अक्षर' है, वह एक प्रकार का शून्य-स्वरूप है। द्वितीय विभाग का नाम 'निरक्षर' है, वह महाशून्य-स्वरूप है। इस पथ में अग्रसर हो पाने पर ही क्रमशः सहजपथ और अचिन्त्य परब्रह्म पद प्राप्त किया जाता है। जो अक्षर-भूमि में रहते हैं वे शून्य में ही स्थित होते हैं। किन्तु जो निरक्षरभूमि में आ पाते हैं वे इस अचिन्त्य परब्रह्म पद तक उठ पाते हैं। इसके बाद और कोई पथ नहीं है। किन्तु निरक्षर की अतीत अवस्था भी है। यदि कोई उस तक जा सके तो सत्यलोक, कुमारलोक तथा चरम में उमालोक पर्यन्त उनकी भी ऊर्ध्वगति सम्भव होगी। इसके बाद और कहीं जाने का पथ मिलता नहीं।"

७

सिद्धि माता

यह आज से अनेक वर्ष पूर्व की बात है। सम्भवत: १३३८ साल अथवा उसका निकटवर्ती कोई समय रहा होगा। मैं तब वड़ादेव मुहल्ला की सर्वमङ्गला लेन में रहता था। एक दिन श्रीस्वामी शङ्करानन्दजो और श्रीवीरेश्वर चट्टोपाध्याय मुझसे मिलने के लिए आये। स्वामीजी वातचीत के प्रसङ्ग में वोले कि खालिसपुरा मुहल्ला में एक माताजो हैं। उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष और निष्ठा, भक्ति और तन्मयता को अनन्य-साधारण कहने में अत्युक्ति नहीं है। वह उनके दर्शन करके प्रकृत साधु का दर्शन किया, ऐसा समझते थे। उनकी इच्छा और आग्रह से मैं उनके साथ एक दिन श्री श्रीमाताजी के दर्शन के लिए गया। वहाँ जाकर जो कुछ देखा, उससे विस्मय और आनन्द दोनों का ही अनुभव किया। माँ तब खालिसपुरा में शिवालय के घर में थीं। देखा, एक छोटे कमरे में एक आसन पर माँ वैठी हुई थीं। माथे से पैर तक विशाल अवगुण्ठन—घूँघट के आवरण से मुखश्री के दर्शन करने का उपाय नहीं था। हमारे जाने के वाद वे हमारी ओर पीठ करके बैठ गयीं। लगा कि नवागत दर्शकों से संकोचवश यथाशक्ति आत्मगोपन करना ही उनका उद्देश्य है। मुख देखने न देने पर भी, हमारे जिज्ञासित प्रश्न का उत्तर देने में उन्होंने संकोच का बोध नहीं किया। उनका कण्ठ-स्वर मृदु होने पर भी दृढ़ तथा करुणा-व्यञ्जक प्रतीत होता था। उनका दर्शन पाकर तथा सत्प्रसङ्ग श्रवण कर मैंने अत्यन्त आनन्द का बोध किया। सरलता, एकाग्रता, अव्यभिचारिणी निष्ठा और एकमात्र भगवान् की चिन्ता में समग्र जीवन का उत्सर्ग—यही उनके जीवन का वैशिष्टय था। सुदृढ़ वैराग्य के ऊपर भगवद्भक्ति के साहाय्य से उन्होंने अपना जीवन प्रतिष्ठित किया था।

इसके बाद से अवसर पाते ही, मैं उनके निकट जाता और नाना प्रकार के भगवत्प्रसङ्ग की आलोचना करता। वे शास्त्र से अभिज्ञ न होने पर भी, सुदीर्घ साधना के फलस्वरूप भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में अनुभूति-सम्पन्न थीं। उसी अनुभूति की सहायता से वे मेरे सब प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा करतीं थीं। ठाकुर (भगवान्) को छोड़कर वे न कुछ जानती थीं तथा न मानती थीं। उन्होंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि ठाकुर ही उनके पथ के प्रदर्शक तथा ठाकुर ही एकमात्र लक्ष्य हैं। वे शास्त्र के उपदेश, महाजनगण के निर्देश अथवा ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध गण के अनुशासन कुछ भी नहीं जानती थीं। प्रतिक्षण ठाकुर ही उनकी परिचालना करते थे। ठाकुर थे उनके साथ के साथी, उनके उपदेष्टा, उनके सान्त्वनादाता, उनके बल-भरोसा, उनके ऐश्वर्य, उनके ज्ञान-विज्ञान, उनके सर्वस्व। ठाकुर उन्हें जब जिस प्रकार चलने के लिए कहते, वे तब उसी प्रकार चलने की चेष्टा करती थीं। ठाकुर थे उनके एक ही साथ इष्ट और गुरु।

माँ ने खालिसपुरा के शिवालय के घर से हाड़ारबाग गुरुमा के घर तक जब जिस स्थान में अवस्थान किया, मैं यथाशक्ति उस स्थान पर ही उनके अवसरानुसार दर्शन करता रहा। क्रमशः वे जिन सब आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्राप्त हुईं, उन सबके सम्बन्ध में ही उनके श्रीमुख से वर्णन मैंने सुना है और उस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर छल से आलोचना करने का भी मुझे अधिकार प्राप्त हुआ। मुझे लगता है, उनके इस सुदुर्लभ अध्यात्म-विज्ञान की आलोचना प्रासंगिक भाव से न करने पर उनके जीवन की कथा असम्पूर्ण रह जायगी। बाह्य जीवन का विवरण एवं अन्यान्य वृत्तान्त उनके जीवनी-ग्रन्थ में कुछ-कुछ है। चिन्ताशील पाठक उससे उनके जीवन की धारा पहचान सकेंगे। वर्तमान समय में नाना स्थानों में नाना प्रकार के साधक दिखायी देते हैं—वे सर्वत्यागी होकर एकान्तवासी तथा भोग-वितृष्ण होने पर भी अल्पाधिक परिमाण में व्यावहारिक जगत् के साथ परिचित हैं। किन्तु सिद्धि माता इस विंश शताब्दी में तथा वाराणसी जैसे नगर में अवस्थान करके भी वास्तव में उसी प्राचीन देश तथा

प्राचीन युग में ही मानो विद्यमान थीं। वर्तमान सभ्यता का आडम्बर वे मानो नहीं पहचान सकी थीं, ऐसा कहना होगा। इस प्रकार की साधिका के जीवन में बाह्य घटना का बाहुल्य कैसे रहेगा ?

सुतरां जिस महाप्रस्थान के पथ पर वे समग्र मनःप्राण देकर अग्रसर थीं, उस पथ का विवरण जान सकने पर उनका परिचय घनिष्ठ भाव से पाना संभव है। स्थूल दृष्टि से समझ सकते हैं, माँ भक्ति-पथ की पथिक थीं। वास्तविक पक्ष में यह ठीक है। कारण वे कहतीं—साधना के पहले भी भक्ति है, अन्त में भी भक्ति है—भक्ति ही साधना का प्राण है। तथापि यह कहना होगा कि ज्ञान, महाज्ञान, प्रभृति को उन्होंने पूर्ण रूप में आयत्त कर लिया था तथा चरम अवस्था में परमपद का साक्षात्कार-लाभ कर लिया था। वे जिस अद्वैतभूमि में उपनीत थीं वह शास्त्र-विचार-जनित नहीं, बल्कि उनकी अपनी सुदीर्घ कालव्यापी साधना के सुमधुर फलस्वरूप थी।

जब उनकी देह का परिवर्तन आरम्भ हुआ तब प्रथम-प्रथम वह स्पष्ट भाव से प्रकाशित नहीं हुआ। कायाभेदी वाणी काया-आश्रय में प्रकाशित होने के पूर्व आभास रूप देह के बीच अनेक प्रकार से फूट पड़ी। इस अवस्था में उनके एक भक्त से मेरा परिचय हुआ। समझता हूँ, यह १३४० साल की बात है। भक्त अपने माता-पिता के साथ काशी आये थे तथा अवसरानुसार साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग की आलोचना किया करते थे। इस समय मैं उन्हें साथ लेकर माँ के निकट गया तथा माँ से उनका परिचय करा दिया। माँ का संग-प्राप्त होकर उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन संघटित हुआ। वे निरन्तर माँ का संग करते रहे तथा उसका प्रत्यक्ष फल भी अपने जीवन में अनुभव किया। वे श्रीअरविन्द के एक परमभक्त थे तथा उस समय उनकी चिन्ता की धारा श्रीअरविन्द की अतिमानस साधना का अनुसरण करती थी। यद्यपि वे विश्वविद्यालय के एक उपाधि-धारी तथा विद्वान् और विद्यानुरागी व्यक्ति थे, तथापि उनका प्रकृत वैशिष्ट्य आत्मानुसन्धान तथा भगवदुन्मुखता के बीच लक्षित होता था। उनके पास श्रीअरविन्द के अप्रकाशित बहुत-से पत्र संगृहीत थे (उन सब पत्रों

में कितने ही अब से बहुत पहले मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं)। उन सब पत्रों के आलोच्य विषय के सम्बन्ध में वे सर्वदा ही आलोचना करते तथा अन्य के साथ विचार विनिमय करते। माँ का संग-लाभ करने के पश्चात् लक्ष्य करता हूँ कि उनके मन की गति मानो अन्य ओर सञ्चालित होने लगी थी। माँ के साथ घनिष्ठता के फलस्वरूप माँ की अहैतुकी कृपा के कारण वे माँ की कायाभेदी वाणी तथा काया में प्रकाशित प्रणव और पादपद्म प्रभृति को अपनी दृष्टि से देख सके। केवल यही नहीं, वाणी जैसे-जैसे प्रकाशित होती, वे उपस्थित रहने पर (प्राय: वे उपस्थित रहते) उसे धैर्य के साथ यथासम्भव शुद्ध भाव से कापी में प्रतिलिपि करके रखते। साथ-साथ वाणी-निर्गम के समय ही ठीक-ठीक लिख लेते। कुछ दिन बाद संगृहीत वाणी की एक प्रतिलिपि मुझे दी। इस प्रकार समस्त कायाभेदी वाणी आदि से अन्त तक मेरे पास संगृहीत हुई। 'श्री-श्री सिद्धिमाता' नामक ग्रन्थ में जो कायाभेदी वाणी प्रकाशित हुई है, वह मूलत: मेरे संग्रह से ही गृहीत है। कायाभेदी वाणी के साथ-साथ बीच-बीच में विभिन्न देवता के मन्त्र और गायत्री भी फूटकर बाहर हुए हैं। इन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर उन्होंने मुझे नहीं दिया, अपने निकट रख लिया। उक्त ग्रन्थ में ये भी प्रकाशित हुए।

साधन-पथ अत्यन्त रहस्यमय है। एक ही गुरु से शक्ति-लाभ करने पर भी विभिन्न साधक अन्तर्निहित आधार के तारतम्य के कारण विभिन्न पथ पर चालित हुए। श्री-श्री सिद्धिमाता जिस क्रम का अवलम्बन करके अग्रसर हुई थीं वह तथा पूर्वोक्त भक्त शक्ति-लाभ के पश्चात् जिस क्रम को प्राप्त हुए थे, वह सर्वांश में एक प्रकार के नहीं थे। मूल में सादृश्य होने पर भी, शाखा-प्रशाखा में भेद लक्षित हुआ। श्री कृष्णा-माँ नाम की एक महिला भक्त सिद्धिमाताजी से शक्ति-लाभ करने पर भी, ठीक गुरु के अनुरूप पथ पर नहीं चलीं। अपनी अवस्था का एक क्रमबद्ध विवरण उन्होंने स्वयं अपने 'कणिका-माला' ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना होगा। इसका एकमात्र कारण है, प्रत्येक साधक का व्यक्तिगत संस्कार और प्रतिभा।

सिद्धि माँ वास्तव में भक्त थीं, योगी नहीं थीं। बाल्य अवस्था से ही वे अपने स्वभावसिद्ध भक्तिभाव में सिद्ध थीं। देव-देवी का दर्शन उनके सहज संस्कार का फल था। जिस अलौकिक उत्कर्ष का उन्होंने उत्तर जीवन में लाभ किया था, उसका एकमात्र मूल उनका स्वाभाविक वैराग्य-भाव तथा सरल भक्ति थी। दीक्षा उनके कुलक्रमागत नियम के अनुसार ही हुई थी, किन्तु उस दीक्षा से वे जाग नहीं पायीं। वह एक लौकिक-प्रथा का पालनमात्र था। क्योंकि उनके जीवन का प्रकृत महत्त्व, जब तक उनके भक्ति-विकास के फलस्वरूप ठाकुर की सविशेष कृपा का लाभ नहीं हुआ, तब तक नहीं हुआ। उन्होंने योगाभ्यास कभी नहीं किया। साधु-संग भी नहीं किया। काशी आने के बाद अन्यान्य काशी-वासी भक्त की भाँति नियमित गंगास्नान और काशीस्थ देव देवी-दर्शन करतीं तथा बाकी समय निर्जन में भगवद्भजन करतीं। उनके जीवन में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था। दिन-पर-दिन अद्भुत निष्ठा और धैर्य के साथ वे जो भजन करती जातीं, एक समय उसी के प्रभाव से उनका जीवन ऊसर मरुभूमि से शस्यश्यामल, स्निग्ध और सरल क्षेत्र में परिणत हो गया। उनके मुख से सुना है कि जिस समय वे विभिन्न मन्दिरों की यात्रा करतीं, उस समय वे साधना के अन्तस्तर में प्रवेश नहीं कर पाती थीं। बाहर की ओर से भक्ति-अभिव्यक्ति के फलस्वरूप देव-देवी का आविर्भाव तथा उनकी अनेक अलौकिक लीलाएँ अवश्य होतीं। किन्तु वह बाह्य व्यापार-मात्र है। इससे प्रकृत आत्मज्ञान का पथ वे प्राप्त नहीं हुई। इसके बाद जब देहतत्त्व समझने के लिए देह में प्रवेश-लाभ किया अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति जागरण के पश्चात् जब वे देहचक्र के बाद का चक्र-भेद करने के लिए अग्रसर, होने लगीं, तब से ही उनकी प्रकृत उन्नति का पथ खुल गया। उनकी साधना के क्रमिक इतिहास की आलोचना के प्रसङ्ग में, इस विषय में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

मनुष्य देहधारी प्रत्येक जीव के मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी-शक्ति निद्रित रहती है। इस शक्ति को जगा न पाने पर, साधन-भजन जो कुछ अनुष्ठित होता है, वह अल्पाधिक परिमाण में बाह्य व्यापार में पर्यवसित

होता है। साधना का उद्देश्य मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में अथवा अन्यान्य ऊर्ध्व-लोक से उत्थित होकर वहाँ के उपभोग्य ऐश्वर्य आनन्द का उपभोग करना नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का भोग पुण्यकर्म के प्रभाव से जीव बिना साधना के भी प्राप्त हो सकता है। वह कृतकर्म का फलभोग मात्र है, वह प्रकृत साधना का फल नहीं। जिस साधना में जीव मोहनिद्रा से उत्थित होकर अपने शिवत्व के अनुभवपूर्वक पूर्णतत्त्व की ओर अग्रसर नहीं हो पाता, वह प्रकृत साधना नहीं। इस कारण कुण्डलिनी-जागरण होने से ही प्रकृत साधना का सूत्रपात होता है। सिद्धि माँ ने अपने जीवन में गम्भीर भाव से सत्य की उपलब्धि की है। जीव का आत्मा शिव-स्वरूप, मोह और अज्ञान से आच्छन्न होकर मूर्च्छितवत् बना रहता है। यह शिवरूपी आत्मा व्योमतत्त्व में अर्थात् विशुद्ध चक्र में शवरूप से अवस्थान करता है। यह गम्भीर प्रसुप्ति है। इस सुप्त आत्मा को अर्थात् शवरूपी शिव को न जगा पाने पर आत्मज्ञान के पथ में अग्रसर होना सुदूरपराहत (बहुत कठिन) है। किन्तु शक्ति के अतिरिक्त इस सुप्त शिव को जगाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। अथच शक्ति, स्वयं निद्रा से अभिभूत होकर आधारचक्र में जड़ पिण्डवत् पड़ी रहती है। इसलिए साधक का सर्वप्रधान तथा सर्वप्रथम कर्तव्य है, इस सुप्त शक्ति को जाग्रत् करके उसकी सहायता से शवरूपी शिव को प्रबुद्ध करना। मूलाधार से विशुद्ध चक्र तक पाँच चक्र, पाँच भौतिक तत्त्वों के केन्द्र हैं। शक्ति व्यापक भाव से सर्वत्र ही सुप्त रहती है। शक्ति एक और अभिन्न है, तथापि चक्र-भेद से उसकी स्थिति पृथक्-पृथक् है। मूलाधार चक्र में शक्ति जाग्रत् होने पर उसके प्रभाव से स्वाधिष्ठान चक्र-स्थित शक्ति जाग्रत् होती है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम चक्र की शक्ति का जागरण भी समझना होगा। संक्षेप में, एक ही शक्ति जाग्रत् होकर जैसे-जैसे सुषुम्णा पथ से ऊर्ध्व उत्थित होती है, वैसे-वैसे उसका जागरण क्रमशः अधिक उज्ज्वल और स्पष्ट होता है तथा चरमावस्था में शक्ति के पूर्ण जागरण-काल में पाँचों चक्र ही मुक्त हो जाते हैं। तब फिर कहीं लेशमात्र जड़त्व का आवास वर्तमान नहीं रहता। इस अवस्था में अर्थात् आकाशतत्त्व

में शक्ति के पूर्ण जागरण के फलस्वरूप शवरूपी शिव जाग्रत् होते हैं, आत्मा की अनादि निद्रा टूट जाती है। तब शिव-शक्ति दोनों ही जाग्रत् होने से कोई किसी को छोड़कर रह नहीं पाते, अर्थात् पारस्परिक आकर्षण से आकृष्ट होकर युगल रूप में मिलित होने के लिए ऊर्ध्व में उत्थित होते हैं। आज्ञाचक्र में, भ्रूमध्य स्थल में, शिव-शक्ति का यह मिलन संघटित होता है।

मिलन होने पर भी, इस मिलन में अपूर्णता होती है; क्योंकि वह खण्ड मिलन है—महामिलन नहीं। आज्ञाचक्र से सहस्रार तक महामिलन का पथ निर्दिष्ट हुआ है। जब तक खण्ड मिलन महामिलन में परिणत नहीं होता, तब तक पूर्ण 'मैं' को नहीं पाया जाता। आज्ञाचक्र में शिवशक्ति के मिलन के फलस्वरूप जिस अहंभाव का उन्मेष होता है, वह खण्ड मैं है; इसलिए उसे 'पूर्ण-मैं' नहीं कहा जा सकता। पूर्ण 'मैं' ही अखण्ड मैं है—उसी एक 'मैं' में ही असख्य अनन्त खण्ड 'मैं' एक हो जाते हैं। इस एक होने के बीच एक गम्भीर रहस्य है।

चिदाकाश सहस्रार के ही अन्तर्गत है। इस आकाश में अन्तःसूर्य और बहिःसूर्य परस्पर मिलित होकर अभिन्न रूप से प्रकाशित होते हैं। महामिलन के पूर्णभाव से सिद्ध होने के पूर्व आत्मदर्शन होता है तथा महामिलन के बाद पूर्ण 'मैं' प्रतिष्ठित होता है। सुतरां आत्मदर्शन, महामिलन तथा पूर्ण 'मैं' में स्थिति—ये तीन उपलब्धियाँ क्रमानुसार होती हैं। यदि कोई साधक आत्मदर्शन के बाद देहत्याग करता है, तो वह शिवलोक में प्रवेश-लाभ करता है; किन्तु महामिलन पर्यन्त आयत्त करके देहत्याग करने पर, शिवत्व-लाभ अवश्यम्भावी है। महामिलन के बाद पूर्ण 'मैं' को प्राप्त होकर देहत्याग करने पर, वैकुण्ठ में गति होती है। यह अवस्था अति अद्भुत है; क्योंकि पूर्ण 'मैं' ही मूल मैं है, वह एक और अखण्ड है। स्पष्ट ही देखा जा सकता है, इस 'मैं' से ही केवल निम्न स्तर के देवता-वर्ग नहीं, ऊर्ध्व स्तर के ब्रह्मादि सकल देवता, यहाँ तक कि समग्र जगत् बहिर्गत होता है, और पुनः समग्र विश्व इस 'मैं' में प्रविष्ट होकर लीन हो जाता है। 'मैं' जैसे था उसी प्रकार रहता है, उसका लय

नहीं होता। कहना न होगा कि यह साकार अवस्था—एक हिसाब से साकारसत्ता की चरम स्थिति है। लीला अर्थात् नित्यलीला यहाँ विराजती है। इसके बाद और लीला नहीं है। लीला तब ब्रह्म में लीन हो जाती है। तब एकमात्र ब्रह्ममय तथा उनके साथ अभिन्न रूप में विराजमान ब्रह्ममयी विद्यमान रहती हैं—और रहता है एक विशाल 'मैं'। साकार और निराकार के मध्यस्थल में यह विशाल 'मैं' साक्षिस्वरूप विद्यमान रहता है। इसकी परमावस्था शुद्ध ब्रह्म है। तव ब्रह्मयो भी ब्रह्मसत्ता में अभिन्न हो जाती है। कहना न हागा, इस अवस्था में भी 'मैं' रहता है। ब्रह्मावस्था-लाभ करने के बाद यदि किसी साधक का देहत्याग होता है, तो वह साधक मृत्यु के बाद वैकुण्ठधाम में न जाकर तत्काल गोलोकधाम में प्रवेश-लाभ करता है। स्थूल देह में ब्रह्मभाव प्राप्त न होने पर, गोलोक में प्रवेश-लाभ करने का अधिकार उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु इस ब्रह्मभाव के बीच भी अनेक अवान्तर भेद है। पहले जिस ब्रह्म की उपलब्धि होता है वह शान्त ब्रह्म और ज्योतिःस्वरूप है। इसके बाद पूर्णब्रह्म का उदय होता है। पूर्ण ब्रह्म की परावस्था परब्रह्म है—ये नील ज्योतिः अथवा कृष्णतेजः द्वारा उपलक्षित हैं। कहना न होगा, जागतिक श्रीकृष्ण परब्रह्म से अभिन्न हैं। यहाँ तक ही एक प्रकार की देह की सीमा है। इसके बाद महाशून्य का उदय होता है। दिगन्त-प्रसारी महाशून्य में अवस्थिति काल में साधक अपने पूर्व-पूर्व जन्म के सकल कर्मों का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाता है। इस अवस्था में उसके सकल कर्म-संस्कार शिथिल होकर उसे परित्याग कर देते हैं। ब्रह्मज्ञान के आरम्भ होने के साथ ही कर्मक्षय होना आरम्भ हो जाता है। महाशून्य में कर्म प्रायः सम्पूर्ण भाव से क्षीण हो जाता है, फिर भी कर्म का बीज रहता है। महाशून्य के बाद परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ब्रह्माग्नि का उदय होने पर, कर्मबीज दग्ध हो जाता है। तभी कर्म पूर्णतः शान्त हो जाता है तथा माया का भी अवसान होता है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में पराभक्ति, परमज्ञान प्रभृति सब एक साथ मिल जाते हैं तथा भरपूर होकर मानो उछल पड़ते

हैं। इस अवस्था में आत्मा सिद्धिलाभ करता है। तब अर्थात् ब्रह्माग्नि में कर्मबीज दग्ध होकर ज्ञान-भक्ति की पूर्णता सिद्ध होने पर, महाशक्ति अवतीर्ण होती हैं। जब तक कर्म का बीज नष्ट नहीं होता अथच सकल कर्म साधना और ज्ञान के प्रभाव से शिथिल होकर अपसारित होता है, तब तक महाशक्ति का अवतरण नहीं होता। महाशक्ति के अवतरण के फलस्वरूप आत्मा ब्रह्मत्व-लाभ करके सिद्ध होता है। तब सिद्ध आत्मा परमपद के दर्शन को प्राप्त होता है और उसके प्रकृत ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन हो जाता है। ब्रह्म से परिपूर्ण ब्रह्म-पर्यन्त जो ज्ञान-लाभ होता है, माँ कहती थीं, वह भी आभास-ज्ञान है। उसमें विश्व चराचर का सन्धान तो पाया जाता है किन्तु तथापि वह आभास है। माँ कहती थीं—शिव, नारायण, ब्रह्ममयी, दुर्गा प्रभृति इस प्रकृत ज्ञान-चक्षु के उपासक हैं। तब भी इनकी इसमें स्थिति नहीं है। क्योंकि ये जगत् के शासन-कार्य में भिन्न-भिन्न अधिकारपद पर अधिष्ठित हैं। अतएव ये पूर्ण ज्ञान में यातायात कर पाने पर भी, स्थितिहीन हैं। साधारण देवता[1] लोग इस ज्ञान का सन्धान नहीं पाते, स्थिति-लाभ तो दूर की बात है।

माँ कहती थीं, साधना का पथ अति विशाल है। आत्म-दर्शन, नित्य-लीला, महामिलन, मेलजोल तथा ब्रह्म-लाभ होने पर भी साधना का अन्त नहीं होता। महाशून्य का भेद करके परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्व में स्थिति-लाभ न होने तक आत्मा की सिद्धि नहीं होती। साधन अवस्था में पतन का भय अवश्य ही होता है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था के बाद पतन की आशंका न होने से वह भी अभयपद है।

---

१. शिव, विष्णु प्रभृति श्रेष्ठ देवता के अन्तर्गत हैं। निम्नस्तर के देवता-वर्ग ब्रह्म में प्रवेश-लाभ नहीं कर पाते। माँ कहती थीं, ऊर्ध्वस्तर के देवता लोग एक एक बार ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, फिर वहाँ से निकल जाते हैं। प्रविष्ट होने के बाद एकमात्र ब्रह्म ही रह जाते हैं, भिन्न-भिन्न देवता का चिह्न तब लक्षित नहीं होता। किन्तु निर्गम के बाद भी वह ब्रह्मज्योतिः तो रहती है तब भी उस ज्योति के बीच भिन्न-भिन्न देवता का भिन्न-भिन्न आकार प्रकाशित होता है। यह आकार जागतिक होने से बाह्य है, ज्योतिः ब्रह्म है।

इस प्रसङ्ग में गुरुतत्त्व के सम्बन्ध में माँ की अनेक बातें विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। माँ कहती थीं, "साधक की अवस्था के तारतम्य के अनुसार गुरु मूलत: एक होने पर भी, क्रिया-भेद से चार प्रकार से प्रकाशित होते हैं।" तदनुसार इस चार प्रकार के गुरु का नाम—गुरु, विश्वगुरु, गुरुब्रह्म तथा सद्‌गुरु दिया जा सकता है। जो शिष्य की कुण्डलिनी जगाकर उसे चक्रभेद करने में सहायता करते हैं—वे गुरु हैं। जिसमें कुण्डलिनी जगाने की शक्ति नहीं, उसे वे प्रकृत गुरु के रूप में स्वीकार नहीं करती थीं। षट्‌चक्र भेद के बाद विश्वभेद जिनकी कृपा से सम्भव होता है, वे विश्वगुरु हैं। षट्‌चक्र भेद के बाद तथा ब्रह्मज्ञान उदित होने के पूर्व तक विश्वगुरु का अधिकार जानना होगा। इसके बाद ब्रह्म साक्षात्कार होता है। ऐसा कहेगा—यह विश्व से अतीत अवस्था है। जिनके कृपा कटाक्षपात से अशेष -विशेष के साथ ब्रह्मज्ञान आयत्त होता है, वे ब्रह्मगुरु नाम से वर्णित होते हैं। माँ कहती हैं, ये ही सद्‌गुरु नहीं हैं जिनको महाकृपा से जीव का आत्म-साक्षात्कार घटित होता है, वेही सद्‌गुरु होता है। सद्‌गुरु का स्थान ब्रह्मगुरु के भी ऊपर है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में प्रतिष्ठित होने के बाद यथार्थ आत्म-साक्षात्कार होता है, उसके पहले नहीं। पहले जो आत्म-दर्शन होता है वह वस्तुत: आभासमात्र है।

ज्ञान के अथवा महाज्ञान के स्वरूप-निर्णय के प्रसंग में अनेक बार माँ के साथ आलोचना हुई है। वे कहती हैं, ज्ञान तब तक पूर्ण भाव से उज्ज्वलता-लाभ नहीं करता, जब तक चैतन्य का विकास नहीं होता। ज्ञान और चैतन्य स्वरूपत: अभिन्न होने पर भी, दोनों के बीच किञ्चित् पार्थक्य है। चैतन्य अत्यन्त निगूढ़ वस्तु है, ब्रह्मज्ञान से महाशून्य के साक्षात्कार के पूर्व तक जो ज्ञान है, उससे चैतन्य की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती; क्योंकि तब भी कर्मबीज अथवा मूल अविद्या नष्ट नहीं होती। महाशून्य भेद करने के बाद परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है वह अनेक उन्नत स्तर का ज्ञान है। यह ज्ञान अग्नि-स्वरूप होकर मूल अज्ञान को दग्ध करता है। अविद्या-निवृत्ति के बाद ब्रह्माग्नि शान्त हो जाने पर, चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। तब का ज्ञान ज्ञानाग्नि से

भी श्रेष्ठ है। यही उज्ज्वल महाज्ञान है। चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर, ज्ञान का प्रकृत स्वरूप फूट उठता है तथा स्वरूपानन्द उद्बुद्ध होता है। यद्यपि ज्ञान और चैतन्य एक ही वस्तु हैं, तथापि पूर्णता के अनुरोध से माँ कहती थीं, "ज्ञान भी चाहिए, चैतन्य भी चाहिए।" चैतन्यहीन ज्ञान को वे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं मानतीं थीं।

ज्ञान और चैतन्य में भेद न होने पर भी जो किञ्चित् भेद है, वह माँ की पूर्वोक्त वाणी से ही स्पष्ट समझा जा सकता है। शिव और शक्ति जैसे अभिन्न वस्तु होने पर भी शक्तिहीन शिव, शिव नहीं, शव रूप हैं, यही शास्त्र का सिद्धान्त है। इसी प्रकार माँ कहती थीं, "ज्ञान और चैतन्य अभिन्न होने पर भी, चैतन्यहीन ज्ञान प्रकृत ज्ञान नहीं है।" महाशक्ति के अवतरण के पूर्व जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वही चैतन्यहीन ज्ञान है। महाशक्ति के अवतरण के बाद चैतन्य का उन्मेष होता है अतः ज्ञान, चैतन्य के साथ अभिन्न रूप में उज्ज्वल भाव से प्रकाश पाता है।

यहाँ एक बात विशेष भाव से प्रणिधान के योग्य है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ब्रह्माग्नि की शिखा, कर्म के शेष को दग्ध करके भी निर्वाण प्राप्त नहीं होती, वरन् उज्ज्वल होकर ज्वलित हो उठती है। यह जो उज्ज्वलता है, यही महाशक्ति के अवतरण का निदर्शन है। किन्तु इस अवतरण के साथ-साथ जिस परिपूर्ण आनन्द का विकास होता है, उसमें कोई उल्लास नहीं। माँ कहती थीं, "सोचती हूँ, इतना विराट् आनन्द धारण करूँगी कैसे ? किन्तु ऐसा देखती हूँ, उससे भी विचलित भाव नहीं आता। एक उदासीनता वा स्थिरता अक्षुण्ण भाव से विद्यमान रहती है।" प्रकृत निर्वाण परमपद में स्थिति का नामान्तर है। वही निराकार स्थिति है। इसके बाद एक विकास की अवस्था है, उसे माँ परामुक्ति की अवस्था कहती थीं। निर्वाण निराकार है, उसकी पूर्वावस्था में सब कुछ ही साकार है; किन्तु परामुक्ति होने पर समझ में आता है कि निराकार और साकार में कोई द्वन्द्व नहीं है। जो निराकार है वही अनन्त साकार रूप में प्रकाशमान है, कोई विरोध नहीं है। पूर्व वर्णित विकास के आयत्त न होने तक निराकार और साकार पृथक्-पृथक् अवस्थान करते हैं। दोनों का सम्यक् दर्शन नहीं

होता। परमपद में स्थिति न होने तक विकास की अवस्था नहीं आती तथा विकास-प्राप्त न होने तक परम साम्य की उपलब्धि नहीं होती।

माँ ने एक दिन कहा, "जगत् कुछ नहीं है, किसी प्रकार कुछ नहीं देखता हूँ, उस एक को छोड़कर। जिस ओर देखती हूँ, देखती हूँ वही है। घर, द्वार, लोकजन, कुछ भी नहीं देखती। जगत् सचमुच नहीं है—एक को छोड़कर और कुछ भासित नहीं होता, फिर वक्र दृष्टि करके देखने पर सब ही है। असली बात यह है—सब है—जगत् है, मैं ही जगत् छोड़कर उठ गयी हूँ अथच तुम लोगों के साथ बात करती हूँ। इस देह में रहते यह आवश्यक है, इसलिए है। इसीलिए कहते हैं, जगत् से परे होकर जगत् में रहना।"

माँ के भक्त की बात का पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ। उन्होंने विशेष अनुग्रह-लाभ किया था। उसके फलस्वरूप वे साधना में द्रुतगति से उन्नति-पथ पर आरोहण कर रहे थे। केवल माँ की कृपा पाकर ही तृप्त नहीं हुए, कठोर परिश्रम के साथ वे उस कृपा की योग्यता अर्जन करने की चेष्टा करते थे तथा उन्होंने उसका अनेकांश में अर्जन कर लिया था यह उनके जीवन की परवर्ती धारा से समझा जा सकता है। श्रीकाशीधाम में उत्तरवाहिनी गङ्गा के तट पर पांडे घाट नामक स्थान पर एक निभृत प्रकोष्ठ में वे द्वार रुद्ध करके अहोरात्र बैठे रहते थे। केवल आहार-निद्रा प्रभृति अत्यावश्यकीय दैहिक कर्तव्य के अनुरोध से कुछ समय वे बाहर रहते। दीर्घकाल की साधना के फलस्वरूप क्रमशः अनेक अनुभूतियों को उन्होंने प्राप्त किया। यहाँ तक कि, उनके जीवन की समग्र धारा परिवर्तित हो गयी। वे बीच-बीच में मेरे घर आकर मुझसे मिलते एवं कुछ क्षण एकान्त में बैठकर अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि के विषय की आलोचना करते। इस प्रकार उनके निजी क्रम-विकास की धारा मैं जान सका था। इसका संक्षिप्त परिचय साधारण की बोधगम्य भाषा में यथासम्भव सरल करके नीचे दिया गया है।

मूलाधार चक्र में ही कुण्डलिनी का जागरण आरम्भ होता है। व्योमतत्त्व के केन्द्र विशुद्ध चक्र में वह बहुत कुछ पूर्ण होता है। कुण्डलिनी

अपने दिव्य स्वरूप में अपनी देह द्वारा ब्रह्मपथ रुद्ध करके निद्रित रहती हैं।

इस पथ में प्रवेश करने का उपाय नहीं। किन्तु उन्हें न जगा पाने पर, उनके द्वारा पथ छोड़ दिये जाने की सम्भावना नहीं है। इसलिए सर्वप्रथम उन्हें ही जानने की चेष्टा करना होता है। व्योमतत्त्व में जैसे शक्ति का जागरण वहुत कुछ पूर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मा का जागरण आवद्ध है। आत्मा के सात भाव हैं। ये आत्मा के क्रमिक जागरण की अवस्था के सूचक हैं। इन सातों के बीच जो अन्तिम भाव है, उसका नाम ज्ञान-आत्मा है। आत्मा जाग्रत् होने के साथ-ही-साथ शिवरूप में प्रकाशित होता है। सर्वप्रथम केवल शिव का ही दर्शन होता है, पूर्वोक्त जाग्रत् शक्ति का दर्शन नहीं होता। किन्तु उसके बाद शिव-शक्ति के युगल रूप का दर्शन होता है। तव समझते हैं—शिव को छोड़कर शक्ति नहीं हैं, शक्ति को छोड़कर शिव नहीं हैं। इस युगल रूप के दर्शन के साथ-साथ ऊपर से एक ज्योति के सदृश वस्तु उतर आती है—इस युगल रूप के दर्शन के साथ-साथ इस ज्योति का भी दर्शन होता है। क्रमशः यह ज्योति उज्ज्वल हो उठती है। साथ-साथ शिव और शक्ति भी प्रकाशित होते हैं। धीरे-धीरे यह ज्योति मानो घनीभूत होकर साकारत्व प्राप्त होती है। अन्त में वह साधक का निज आकार धारण करती है। इस समय शिव-शक्ति का आकार फिर नहीं रहता। एकमात्र निज का आकार ही विद्यमान रहता है। इसी का नाम आत्मदर्शन है। यह अवस्था लाभ होने पर, अपनी देह का हिलना-डुलना अथवा सञ्चालन होने पर इस आत्मा का सञ्चालन होता है, इस प्रकार दिखायी देता है। क्रिया एक ही है, किन्तु लगता है, वह दो स्थानों में एक ही समय दृष्टिगोचर होती है। आज्ञाचक्र में इस मिलन का आभास पाया जाता है। इसकी पूर्णता ही महामिलन है, जो सहस्रार में संघटित होता है। क्रमशः इस देह में और आत्मा में नाना प्रकार की लीलाएँ फूट उठती हैं। प्रथमतः यह सब लीला सामयिक भाव से आविर्भूत होती है। बाद में वह स्थायी होती है। यह प्रक्रिया निरन्तर होती है

अतः उसे नित्यलीला कहकर वर्णन करते हैं। नित्यलीला का केन्द्र वैकुण्ठ से गोलोक पर्यन्त है। वह ब्रह्ममय होने पर भी, वास्तविक पक्ष में ब्रह्म नहीं है। नित्यलीला के बाद ब्रह्मावस्था है। संयोग-मिश्रण से यह अवस्था आरम्भिक कही जा सकती है। इस समय साधक के अन्तःकरण में मैं—तुम भाव समाप्त होकर मैं-मैं भाव की प्रतिष्ठा होती है। तब आनन्द सत्ता जो नित्यलीला में प्रतिष्ठित है वह चित्सत्ता के साथ योगयुक्त होती है। तब चित् ही प्रधान और आनन्द ही उसके अन्तर्गत होता है। बीच-बीच में आनन्द अथवा लीला फूटकर बाहर हो जाती है। देह के रहने तक यही स्वाभाविक है। क्योंकि, देह में रहकर चिद्ब्रह्म में स्थिति-लाभ नहीं होता। किन्तु यदि देह में रहते ही चित् को सत् से युक्त करने का कौशल आयत्त किया जाय, जिसके प्रभाव से चित्, सत् के अन्तर्गत भाव से रह सके, तो देहान्त होने पर सद्ब्रह्म में स्थिति हो सकती है। अन्यथा चिद्ब्रह्म में स्थिति अवश्यम्भावी है। क्योंकि देह निवृत्त होने पर, फिर अग्रसर होने का कोई उपाय नहीं है। यह चित्प्रतिष्ठा भी लीला के अन्तर्गत है। इसकी परावस्था लीलातीत है। इस अवस्था में पृथक् भाव से ध्वनि नहीं होती, अपने मुख से ध्वनि होती है तथा स्वयं श्रवण करते हैं।

अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(क) लीलानिम्न, (ख) लीला के अन्तर्गत। इसके दो अवान्तर भेद हैं—एक आनन्द-प्रधान और दूसरा चित्प्रधान। चित्प्रधान अवस्था आनन्द-प्रधान अवस्था से उन्नत है। इसका ही नाम अन्तर्द्रष्टा है। (ग) जो द्रष्टा की अतीत अवस्था है, उसका नाम लीला-तीत है। ये चार अवस्थाएँ ब्रह्म के बीच की हैं। ये पूर्णता की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। लीलातीतातीत अति दुर्लभ है। लीलातीत द्रष्टा, चित् और सत् की मध्यवर्ती दशा है। इस अवस्था में कभी चिद्भाव नहीं रहता, एकमात्र सद्भाव रहता है। फिर कभी-कभी वह फूट पड़ता है। जो लीला-तीतातीत भाव है, वह प्रशान्त सत्ता है, वह निस्तरङ्ग है। लीलान्तर्गत की जो आनन्द-प्रधान दिक् है, उससे लीलारस का आस्वादन होता है। इस असीम आनन्द की तरङ्ग से युक्त होना अत्यन्त कठिन है। अनेक बड़े-बड़े भक्त यहीं स्थिति ग्रहण करते हैं।

भक्त ने जिस अवस्था को आत्मदर्शन कहा है, उसे प्राप्त करने के बाद देहान्त होने पर शिवत्व लाभ होता है। अवश्य यह निम्न स्तर का है। शिवत्व के भी नाना प्रकार के भेद हैं; क्योंकि आत्मदर्शन की परिपक्वता सब क्षेत्रों में समान नहीं होती। निम्नतम शिवत्व जन्म-मृत्यु-चक्र से उत्तीर्ण, किन्तु चैतन्यहीन है। फिर यह भी कृपाराज्य के अन्तर्गत है। साधारणतः इस अवस्था का अतिक्रम करना अत्यन्त कठिन है। हाँ, कोई देहधारी जीव यह पथ भेद करके जाने के समय ईश्वर कृपा से इस अचेतन शिव को समझ पाता है और अचैतन्य अवस्था से जाग उठता है। सङ्ग पाकर उस अवस्था को पार करने में समर्थ होता है। इसकी ऊर्ध्वतन अवस्था में चैतन्य रहता है। फिर उसके बीच भी अवान्तर भेद है। महामिलन तक सीमा की गण्डी है, उसके बाद कोई गण्डी नहीं।

पहले जो कहा है, उससे समझा जायगा कि, माँ की अनुभूति के क्रम से भक्त के अनुभूति-क्रम में किसी-किसी अंश में पार्थक्य है। इसी प्रकार श्रीकृष्णा माँ की आलोचना करने पर देखा जायगा कि उनमें भी किसी-किसी अंश में पार्थक्य है। अथच उक्त भक्त और कृष्णा-माँ दोनों ही सिद्धिमाताजी के निकट शक्ति प्राप्त होकर कुण्डलिनी के जागरण के अनुभवपूर्वक साधन-पथ पर अग्रसर हुए थे। गुरुदत्त शक्ति सुप्त कुण्डलिनी को जगा देती है, उसके बाद जिसकी जैसी व्यक्तिगत प्रकृति है उसका विकास तदनुरूप मार्ग में ही होता है। इसलिए गुरु-शिष्य सब प्रकार से एक ही अनुभूतिक्रम प्राप्त नहीं होते हैं।

श्रीकृष्णा-माँ की अनुभूति का विश्लेषण करने पर, देख पाते हैं कि उन्होंने कुण्डलिनी के जागरण से ही आध्यात्मिक उन्नति का क्रमिक विकास अनुभव किया है। गुरु-कृपा और अनुरागवशतः नाभिगुहा में सुप्त कुण्डलिनी प्रवुद्ध होकर क्रम से ऊर्ध्व में उत्थित होती हैं। उस समय उन्होंने नाना प्रकार के देव-देवी, महाजन तथा अन्यान्य दृश्य दर्शन किया था। उसके बाद अन्तश्चक्षु उन्मीलित होने पर, सूर्य के साथ अपना

मिलन अनुभव करते हैं। इसके बाद मस्तक में शिव-शक्ति का अधिष्ठान होता है, तब क्रमशः अग्रसर होते-होते सहस्रार भेद करने पर साक्षात्कार-लाभ करते हैं। तब गुरु-शिष्य का भेद विलीन हो जाता है; आत्मा को ज्योतिःस्वरूप का अनुभव होता है और इस अनुभव के क्रम में नीलज्योतिः से आरम्भ करके व्यापक ज्योतिः तक अनुभव गोचर होता है। इसके बाद एक ऐसी अवस्था का उदय होता है, जब किसी प्रकार दृश्य नहीं रहता, यहाँ तक कि ज्योतिः भी नहीं रहती। तब आलोक और अन्धकार नहीं रहते, सुख और दुःख का बोध नहीं रहता तथा स्तुति और निन्दा समान प्रतीत होते हैं। तब महाचैतन्य के उदय से निद्रा और जागरण एक प्रकार के प्रतीत होते हैं और कामना, वासना निवृत्त होती है। तब किसी प्रकार का कम्पन नहीं रहता तथा शान्ति और निवृत्ति पूर्ण रूप से विराजती हैं। अति मधुर प्रणव का झङ्कार दिव्यधाम के यात्री को आकुल कर डालता है। यहाँ तक साधन का पथ अत्यन्त दुर्गम है।

महाशून्य के बाद सत्य जगत् आरब्ध होता है। सत्य राज्य में चलने का पथ अपेक्षाकृत सुगम है। परिपूर्ण परमपद का सन्धान इस सत्य राज्य से ही पाया जाता है। महाशून्य में ज्योतिः नहीं रहती, यह कहा गया है। महाशून्य के पूर्व ज्योतिः है और महाशून्य के बाद भी ज्योतिः है; किन्तु दोनों ज्योतिः परस्पर भिन्न हैं। यह ज्योतिः भगवान् के चिन्मय स्वरूप से अभिन्न है। यही महाकारण और विश्राम का परम स्थान हैं। जीव स्वधाम-अन्वेषण करते-करते यहाँ तक आकर ही शान्ति-लाभ करता है, यह अद्वैत सत्य है। देह रहते ठीक-ठीक यह अवस्था न पाने पर भी, इसका आभास पाया जाता है। उसका ही नाम 'मिलमिश्रण' है। इस अवस्था में एक अखण्ड ज्योतिः रहती है और बाहर भगवान् की महिमा और गौरव प्रकाशित होते हैं।

भ्रमर-गुहाभेद, लिङ्ग-शरीर-त्याग, बिन्दु रूप में परिणत अलिङ्ग शरीर में स्थिति, बिन्दु-शरीर-त्याग और उसके बाद कारण-शरीर-त्याग—यही साधना का क्रम है। भ्रमरगुहा से ही बिन्दु-सुधा-क्षरण

का आरम्भ होता है। शुद्ध ज्योति के बाद परम ज्योति में जाकर साधना का शेष होता है। पूर्व में जो सम्मुख दृष्टि थी, परम ज्योतिः की स्थिति में वही चारों ओर की व्यापक दृष्टि के रूप में फूट उठी। तब मन-बुद्धि शान्त हो जाते हैं तथा महाइच्छा आत्म-प्रकाश करती है। महाइच्छा निर्विचार है—उससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जहाँ चित् नहीं है, अथच कार्य होता है, वहीं महाइच्छा को जानना होगा। यह आनन्द के अतीत परा शान्ति की अवस्था है। तब परमपुरुष का साक्षात्कार होता है और मन का परिवर्तन और परामुक्ति-लाभ होकर आत्मसमर्पण सिद्ध होता है। जगत् ब्रह्ममय प्रतीत होता है, ऐश्वर्य त्याग होकर परा-भक्ति और माधुर्य का विकास होता है। देहस्थिति में शुद्ध मन, बुद्धि और श्वास परमज्योति के साथ अभिन्न रूप में स्थित हैं। कभी-कभी क्षण काल के लिए परमपद का प्रकाश होता है। देहान्त में, परमपद में स्थिति-लाभ होता है।

माँ का परमलक्ष्य परमपद है ऐसा हम उनके अन्तिम काल की वाणी से समझ सके हैं किन्तु इस परमपद के सम्बन्ध में सबकी धारणा ठीक एक प्रकार की नहीं है। वैदिक युग में ऋषि-गण की धारणा थी कि विष्णु के परमपद को सूरि-गण दिव्यचक्षु की भाँति निरन्तर दर्शन किया करते हैं। इस धारणा से समझा जा सकता है कि दिव्य सूरि-गण परमपद को अनिमेष दृष्टि के सम्मुख प्रकाशमान देख सकते थे, उसमें वे प्रवेश करते थे, इस प्रकार का कोई निदर्शन वेदमन्त्र से नहीं विदित होता। क्योंकि 'सदा पश्यन्ति' इस वाक्यांश द्वारा हम अनवच्छिन्न दर्शन ही समझते हैं, प्रवेश नहीं समझते। इसका कारण यह हो सकता है कि उसमें प्रविष्ट होने पर अपनी सत्ता लुप्त हो जाने की आशङ्का रहती है। प्राचीन वैष्णव-गण, विशेषतः श्रीवैष्णव-गण परमपद की महिमा का कीर्तन कर चुके हैं। वे परमपद कहने से परमव्योम को समझते थे। रामानुजीय वैष्णवों की भाँति परवर्ती वैष्णव आचार्य-गणों ने भी परव्योम की महिमा का कीर्तन किया है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भगवान् की माया, प्रकृति अथवा अविद्या रूप अंश में विद्यमान

रहता है। यहाँ तक ही त्रिगुण का खेल तथा जड़भाव का प्रभाव लक्षित होता है। इसके बाद विरजा नदी अथवा कारण-सलिल विराजता है। उसके ऊपर परव्योम वा चिन्मय आकाश है, जिसके भीतर भगवान् का नित्यधाम विराजमान है।

वेद के बहुत स्थलों में परव्योम अथवा परमव्योम शब्द का उल्लेख देखा जा सकता है। तद्रूप विष्णु का परमपद अथवा केवल परमपद वा परमधाम है, इस प्रकार का निर्देश भी वेद में, परवर्ती आर्य साहित्य में बहुत स्थानों पर दीखता है। वैष्णवगण के वैकुण्ठ प्रभृति भगवद्धाम परव्योम के ही अन्तर्गत हैं। उसमें भी प्रवेश नहीं होता ऐसा नहीं, क्योंकि गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत प्रभृति सर्वत्र ही अन्तरंग भक्तगण के प्रवेश की बात पायी जाती है। गीता में 'विशते तदनन्तरम्' इस स्थल में प्रवेश की बात स्पष्ट ही है। गीता में अन्यत्र भी उल्लिखित हुआ है कि उस परमधाम में पहुँचने पर, फिर वहाँ से कोई लौटता नहीं है। यह भी प्रवेश के अनुकूल वाक्य है। सुतरां पूर्वोक्त विवरण से समझा जाता है कि परमपद अथवा परमव्योम में प्रविष्ट होकर तथा दूर से उसे निर्निमेष नयन से निरन्तर निरीक्षण करना, दोनों ही प्राचीनकाल में प्रसिद्ध थे। अवश्य अधिकार के तारतम्य के अनुसार तथा रुचि के वैचित्र्यवशतः विभिन्न साधकों का विभिन्न प्रकार का स्थिति-लाभ होता है।

माँ अनेक बार परमपद को व्योम शब्द से निर्देश करतीं, यह मेरे ध्यान में है। तब भी उसमें प्रविष्ट होना अत्यन्त दुरूह है, यह भी वे कहतीं। देह रहते परमपद में ठीक-ठीक प्रवेश नहीं होता—परमपद का दर्शन होता है तथा परमपद का स्पर्श होता है, किन्तु उसमें ठीक प्रवेश नहीं होता; यही उनका मत था। एकमात्र शुकदेव के अतिरिक्त और किसी ने वहाँ प्रवेश किया, ऐसी बात उनसे नहीं सुनी।

महाशून्य-भेद के सम्बन्ध में माँ कहतीं कि इसके न होने पर प्रकृत सत्य स्वरूप में स्थिति-लाभ नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में अन्यान्य महाजनगण के मत भी प्रायः एकरूप हैं। सन्तगण ऐसा कहते हैं कि शून्य तथा महाशून्य दोनों का ही भेद आवश्यक है। शून्य का भेद न कर पाने

पर, पिण्ड से ब्रह्माण्ड में सञ्चरण नहीं किया जाता तथा महाशून्य भेद न कर पाने पर, ब्रह्माण्ड से विशुद्ध चैतन्यमय सत्य राज्य में प्रवेश नहीं किया जाता। महाशून्य-भेद के बाद भ्रमर-गुहा का अतिक्रम करके सत्य-लोक में अवस्थान करते हैं। यह सन्तों में सभी अनुभव करते थे। माँ के मुख से भ्रमर-गुहा की बात सुनी है, यह ध्यान नहीं है। किन्तु श्रीकृष्णा माँ महाशून्य के बाद भ्रमर-गुहा तथा उसके बाद सत्यस्वरूप आत्मा का अनुभव प्राप्त हुई थीं। सन्तगण कहते हैं, ब्रह्माण्ड की परम सीमा तक मन और जड़भाव का आभास लक्षित होता है। महाशून्य का अतिक्रम होने पर, दोनों से ही मुक्ति-लाभ होता है। चैतन्यमय सत्य राज्य में मन और जड़ नहीं होते अथवा चिर दिन के लिए निष्क्रिय हो जाते हैं। मन का अतिक्रम न कर पाने से कल्पना के जाल से उद्धार पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है, क्योंकि क्लिष्ट मन का विकल्प-समूह ही इन्द्रजाल के रूप में शुद्ध आत्मा को घेरकर उसे पाशबद्ध करता है।

माँ ने ब्रह्मावस्था-लाभ के पूर्व तथा महामिलन के बाद 'मिलमिश्रण' अवस्था में लीला-दर्शन किया था, ब्रह्मावस्था के बाद फिर लीला का आस्वादन नहीं पाया। तब एकमात्र ब्रह्मसत्ता के ही गभीर और गभीरतर स्तर-समूह में वे क्रमशः प्रविष्ट हुई थीं। इसे एक हिसाब से लीला की अतीत अवस्था कहना होगा। किन्तु वैष्णव आचार्यगण ने जिस नित्य-लीला का वर्णन किया है उसके साथ माँ द्वारा वर्णित लीला का किसी-किसी अंश में पार्थक्य है। लीला स्वरूप-शक्ति का खेल है, उसमें सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी, इस त्रिविध शक्ति का ही व्यापार है। ह्लादिनी शक्ति का सारांश ही महाभाव है। भक्ति प्रभृति इस ह्लादिनी शक्ति की ही विभिन्न वृत्ति के नाम हैं। भगवत्स्वरूप और उनकी स्वरूप-शक्ति के बीच परस्पर क्रीड़ा चलती है, इसके फलस्वरूप शक्ति के आश्रय और विषय दोनों स्थानों में ही रसास्वादन होता है। स्वरूप शक्ति का, विशेषतः ह्लादिनी शक्ति का, आश्रय भगवान् है तथा इस शक्ति के अंश रूप में निक्षिप्त होने के फलस्वरूप उसके द्वारा अनुगृहीत जीव उसका आश्रय होता है। तब उसके विषय होते हैं स्वयं भगवान्। इस प्रकार भक्त और भगवान् में

अनादिकाल से अनन्त प्रकार के रसास्वादन का खेल चल रहा है। इस लीला में भगवान् रस का आस्वादन करते हैं तथा भक्त को कराते हैं और भक्त भी रसास्वादन करता है तथा भगवान् को कराता है। इस आस्वादन का प्रवाह अनादिकाल से प्रवर्तित हुआ अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसके आरम्भ और अवसान में किसी का भी निर्देश नहीं किया जाता। इससे ऊपर ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसे यह लीला अतिक्रम करके जीव अपने पुरुषार्थ रूप में प्राप्त हो पाए। नित्य आवर्तनशील इस लीला का जो मध्य बिन्दु है उसे लीलातीत कहकर वर्णन किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक पक्ष में वह भी नित्यलीला के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार विचार करने पर समझा जायगा कि माँ द्वारा वर्णित मिलमिश्रण अवस्था इससे बहुत कुछ पृथक् है। मिलमिश्रण अवस्था के बाद बहुत कुछ अग्रसर होने पर, ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति होती है; किन्तु वैष्णव लीला-रसिकगण कहते हैं कि कूटस्थ अथवा अक्षरब्रह्म लीलामय पुरुषोत्तम का धाममात्र है। अर्थात् ब्रह्मावस्था के मध्य से स्वरूप-शक्ति-सम्पन्न भगवत् अवस्था में उपनीत न होने पर, नित्यलीला में प्रवेश नहीं किया जाता।

पूर्वोक्त विवरण से लगता है—अनन्त जाग्रत शक्ति-समूह का आश्रय तत्त्व तथा सुप्त अन्तर्लीन शक्ति-तत्त्व—ये दोनों ही यद्यपि एक ही महा-तत्त्व के अवस्था-भेद मात्र हैं, तथापि इस अवस्थागत वैशिष्ट्य की उपेक्षा नहीं की जाती। माँ द्वारा अनुभूत साधन-धारा से शक्ति की क्रिया की परावस्था में ब्रह्मभाव का उदय परिदृष्ट होता है, किन्तु वैष्णवगण की अनुसृत विशिष्ट साधन-धारा में अव्यक्तशक्ति ब्रह्मावस्था की अपेक्षा अभि-व्यक्तशक्ति अनन्त लीलामय भगवत् अवस्था में वैशिष्ट्य है। इस सम्बन्ध में अधिक आलोचना अनावश्यक है। फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि माँ ब्रह्मावस्था को परम लक्ष्य समझकर नहीं ग्रहण करती थीं। उनकी दृष्टि में परम लक्ष्य था परमपद, जिसे महाशून्य का अतिक्रम करने के बाद, परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में अवस्थित होकर उन्हें साक्षात्कार करना पड़ा था।

विशेष भाव से प्रणिधान के योग्य एक विषय ध्यान में आता है—माँ, ज्ञान और चैतन्य के बीच अतिसूक्ष्म रेखापात करती थीं, यद्यपि वे बहुत

बार स्पष्ट ही दृढ़ता के साथ कहती थीं कि दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अर्थात् स्वरूप के अनुसार ज्ञान और चैतन्य एक ही वस्तु हैं, तथापि अभिव्यक्ति के अनुसार दोनों के बीच किञ्चित् भेद भी वे स्वीकार करती थीं। ऐसा न होता तो वे चैतन्यहीन ज्ञान को हेय न समझतीं। यहाँ प्राचीन अद्वैत आगम में शिव-शक्ति के युग्म स्वरूप की बात ध्यान में आती है। शिव और शक्ति दोनों ही चित्स्वरूप हैं, तथापि दोनों में किञ्चित् भी पार्थक्य नहीं है ऐसा नहीं। क्योंकि शिव विशुद्ध प्रकाशमय हैं—उनमें स्वातन्त्र्य नहीं है, उल्लास नहीं है, अहंभाव का विमर्श नहीं है अर्थात् इस अनन्त प्रकाश में विशुद्ध मैं-भाव का उदय नहीं है। यह शक्ति-विवर्जित शिव-स्वरूप है। किन्तु यह एक प्रकार से शव की अवस्था है; क्योंकि इस स्थल में प्रकाश शक्तिहीन होने से स्वयंप्रकाश न होने के कारण अप्रकाश-स्वरूप है। विमर्श अथवा शक्ति का योग न होने पर प्रकाश, अप्रकाश के सदृश हो जाता है। माँ जिसे चैतन्य कहती थीं तथा ज्ञान के साथ जिसका स्फुरण होने पर आनन्द या उल्लास फूट उठता है, वही महाशक्ति या विमर्श की क्रिया है। इससे हम समझते हैं कि माँ की चरम अनुभूति वहुत कुछ अद्वैत शैवागम के सिद्धान्त के अनुरूप है। माँ कहती थीं कि चरम अवस्था में 'मैं', ज्योतिः और अनियम–ये तीनों अभिन्न रूप में वर्तमान रहते हैं। इस स्थल में ज्योति को अखण्ड प्रकाश तथा 'मैं' और अनियम इन दोनों को स्वातन्त्र्यमय अहंभाव का उल्लास समझना होगा।

कायाभेदी वाणी मूलग्रन्थ के बीच सम्पूर्ण भाव से प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन-काल १३४१ वङ्गाब्द के १४ ज्येष्ठ से उसी वर्ष के २२ अग्रहायण तक है।

इस समय के बीच केवल वाणी ही माँ का कायाभेद करके उठी थी ऐसा नहीं, विभिन्न मन्त्र और बीज भी निर्गत हुए थे। ये सभी सचमुच जाग्रत् हैं। इसीलिए इनकी शक्ति अत्यन्त अधिक है। ग्रहण के उपयुक्त आधार न पाने पर, ये हित-साधन न करके वरन् क्षति के कारण हो जाते हैं। क्रिया, विश्वास और भक्ति—इन तीन गुणों के द्वारा ही आधार

योग्यता-लाभ करता है। अर्थात् जिस आधार ने भगवान् पर सम्पूर्ण आत्म-समर्पण किया है, वही योग्य आधार है। इसलिए भगवान् में मन और प्राण अर्पण न कर पाने पर पूर्ण सत्य-लाभ की आशा केवल दुराशामात्र है।

माँ की देह में विष्णु-पादपद्म भी प्रकाशित हुआ था। विष्णु का परम-पद अति दुर्गम और सिद्ध महापुरुषों के लिए भी दुराराध्य वस्तु है। दिव्यज्ञान-सम्पन्न महापुरुष लोग भी उसमें प्रवेश न पाकर दूर से उसका दर्शन करते हैं। माँ की देह में जो विष्णु का पाद-पद्म शोभित हुआ, वह पूर्वोक्त पद का ही आभास-मात्र है। वह स्वभावतः गोलोक में नित्य प्रकाशमान रहता है, किन्तु जगत् के मलिन जीव का उद्धार करने के लिए वह माँ की काया को भेद कर प्रकाशित हुआ था। उसकी शक्ति इतनी असाधारण होती है कि धारण कर पाने पर वह समग्र विश्व का उद्धार कर सकता है।

जो महासत्य कायाभेदी वाणी में प्रकाशित हुआ, तदनुसार पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान की अवस्था को मिलमिश्रण नाम से अभिहित किया गया है और उसी को जागतिक दृष्टि में आध्यात्मिक साधना की चरम अवस्था भी कहा जा सकता है। साधना के अनेक पथ जगत् में प्रचारित हुए, यह सत्य है। किन्तु प्रकृत सत्य-पथ कुण्डलिनी का जागरण न होने पर उन्मुक्त नहीं होता। यहाँ तक कि उसका सन्धान भी नहीं पाया जाता। सत्यपथ का आश्रय न करके कोई भी पूर्ण ब्रह्मज्ञान की अवस्था को पा सकेगा, ऐसी सम्भावना नहीं है। ब्रह्ममय गोलोक-धाम के अधिष्ठाता एकमात्र भगवान् हैं। वहाँ जितने देवतागण विराजते हैं, सभी पूर्ण रूप से ब्रह्मभाव में जाग्रत् हैं। ये सब अद्वैत भावमय देवगण श्रीभगवान् की महा इच्छा के अनुवर्ती होकर जीव को सत्यपथ के गुप्त रहस्य का सन्धान कृपापूर्वक देते हैं। इसके फलस्वरूप जीव की अनादि मोहनिद्रा भंग हो जाती है तथा जीव जाग उठता है। अर्थात् कुण्डलिनी स्वयं जाग्रत् होकर अनादि निद्रा से आत्मा को जगा देती है। क्योंकि कुण्डलिनी के बिना आत्मा के सुप्ति-भङ्ग का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिए कुण्डलिनी-जागरण को ही सत्य-साधन-पथ का प्रथम सोपान कहकर वर्णन किया गया है।

आत्मा के जाग उठने पर, शिव का निद्रारूप महायोग भग्न हो जाता है ; तब चित्त की मलिनता दूर हो जाती है। कुण्डलिनी के न जागने पर तथा आत्मा के प्रबुद्ध न होने पर, चित्तशुद्धि सम्भव नहीं होती। कुण्डलिनी का जागरण शिवशक्ति रूप में होता है। इसके फलस्वरूप क्रमश: मूल प्रकृति-दर्शन, महामिलन और आत्मदर्शन संघटित होता है। मूल प्रकृति के प्रसन्न न होने पर, प्रकृत सत्य का साधनारम्भ नहीं होता। अशुद्ध चित्त में सत्यदर्शन नहीं होता, अत: आत्मा के जागने के बाद सत्यदर्शन का आरम्भ होता है। कुण्डलिनी और आत्मा की सुप्त अवस्था में जो दर्शन होते हैं, वे स्वप्नदर्शन की भाँति असत् हैं। सत्यदर्शन के मूल में भगवान् की कृपादृष्टि और पूर्ण सत्य का आकर्षण विद्यमान रहता है। सत्य के आकर्षण से ही सत्यदर्शन उत्पन्न होता है। सत्यदर्शन तथा स्वप्नवत् अलीक दर्शन एक प्रकार के नहीं हैं। अन्तर में सत्य प्रतिष्ठित न होने तक सत्यदर्शन की क्रिया चलती रहती है। कुण्डलिनी जागने के बाद महामिलन तक साधनमार्ग अत्यन्त दुर्गम है। इस समय अहङ्कार, प्रलोभन तथा नाना प्रकार की विभीषिकाएँ इस पथ में अन्तराय रूप में प्रकाशित होती हैं। समझना होगा कि यह सब कुछ परीक्षा है। महामिलन के बाद ये सब परीक्षाएँ नहीं रह जातीं और कुण्डलिनी जागने के पूर्व भी नहीं रहतीं। हृदय में मिथ्याभाव का कणमात्र रहने पर्यन्त इस परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ जा सकता। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान रखना होगा कि साधकगण साधारणत: जो सब दर्शन पाते हैं, वे जीव को मोहित करके रखते हैं—जीव को भगवान् का स्वरूप देखने नहीं देते। किन्तु भगवान् की कृपा से कुण्डलिनी जागने के बाद आत्मा जागकर जो सब दर्शन-लाभ करता है, वह बाहर का दर्शन नहीं। वही सत्यदर्शन है। उससे जो मोहित नहीं होता वही भगवान् के स्वरूप-दर्शन से वञ्चित नहीं होता। उसके फलस्वरूप सत्य-प्रतिष्ठा होती है।

सत्यसाधन के पथ में दो क्रमिक स्थितियाँ लक्षित होती हैं। उनमें प्रथम आत्मदर्शन तथा द्वितीय पूर्ण ब्रह्मज्ञान है। आत्मदर्शन तक के मार्ग की बात कही जा चुकी है। किन्तु आत्मदर्शन होने पर भी, पूर्ण ब्रह्म में

स्थितिलाभ के लिए जाग्रत् ब्रह्ममन्त्र आवश्यक होता है। आत्मदर्शन के लिए जैसे शिवशक्ति रूप में कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मूल प्रकृति-दर्शन और महामिलन के भीतर से अग्रसर होती है, तद्रूप पूर्ण ब्रह्म-साक्षात्कार लाभ के लिए आत्मदर्शन के बाद जाग्रत् ब्रह्ममन्त्र आवश्यक होता है। श्रीभगवान् की पूर्वोक्त गोलोक-लीला के सहचर देवता-गण के ब्रह्मरूप होने पर भी, उनसे ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म जैसे नामहीन है, उसी प्रकार सम्बन्ध से विवर्जित है। ब्रह्म का एकमात्र विकास ॐ-कार है। किन्तु ॐ-कार वास्तविक पक्ष में नाम नहीं है। ये सब ब्रह्मरूपी देवता असंख्य होने पर भी, सबका ही आत्मा एक और अभिन्न है। एकमात्र पूर्णब्रह्म ही सब देवताओं का आत्मा है। विकास की ओर से लीला के विचित्र रसास्वादन के लिए भेद लक्षित होता है। गोलोक के ये सभी देवता एक ब्रह्म के अनन्त रूप होने से विशाल आनन्द में मग्न रहते हैं।

माँ की देह में कभी-कभी जो असंख्य पादपद्म शोभा पाते थे, वे सभी देवताओं के चरण हैं।

यह जो जाग्रत् मन्त्र की बात कही है, उसे एकमात्र भगवत्कृपा के बिना पाने का कोई उपाय नहीं है। आत्मदर्शन के साथ-साथ अनादि अन्धकार समाप्त होने पर भी, इस मन्त्र-जागरण के बिना ब्रह्मभाव का पूर्ण रसास्वाद नहीं होता। निज सत्ता क्रमशः भगवत्सत्ता में लीन होने के साथ-साथ ब्रह्मानन्द का आस्वाद आरब्ध होता है। इसका चरम विकास या परिणति मिलमिश्रण या पूर्णत्व है।

विभिन्न देवताओं के साहाय्य से सत्यपथ पर अग्रसर होना होता है। इनमें गणपति, महाकाल और शक्ति प्रधान हैं। गणपति को प्रसन्न किये बिना, शिव-शक्ति को प्रसन्न नहीं किया जाता। इसीलिए गणेश को सिद्धिदाता कहा गया है। कुण्डलिनी-जागरण के बाद मूल-प्रकृति दर्शन-सम्पन्न होने पर महाकाल की उपासना आवश्यक होती है। इसके बाद महाशक्ति, भक्त को नाना रूप में सहायता करती हैं। महाकाली, महा-सरस्वती, महालक्ष्मी और सर्वोपरि महेश्वरी—जगन्माता के ये सब रूप

भक्त के सहायक हैं। महाकाली के जागने पर, हृदय में भजन का वेग उत्पन्न होता है तथा हृदय श्मशान रूप में परिणत हो जाता है। महा-सरस्वती भक्त को पथ का सन्धान देती हैं। महालक्ष्मी और महेश्वरी का अधिकार और भी ऊँचा है। महेश्वरी सबके अन्त में क्रिया करती हैं।

सत्यध्यान और सत्यदर्शन किसे कहते हैं? जाग्रत् शिवशक्ति के युगल-ध्यान को ही सत्यध्यान कहते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से बाहर का आकर्षण समाप्त हो जाता है और चित्त अन्तर्मुख हो जाता है। देवता और मन्त्र दोनों के ही जाग्रत् होने से उसे श्रेष्ठ कहते हैं। प्रत्येक देवता की अर्चना से मानस पूजा के समय इस उपाय का अवलम्बन कर सकने पर देवता प्रसन्न होते हैं और साधक के पथ में अन्तराय नहीं होते हैं। इस ध्यान के क्रमशः गाढ़ होने पर, देवता का सत्यदर्शन-लाभ होता है। तब बाहर की चेतना लुप्त हो जाती है और भीतर अपूर्व आनन्द तथा शान्ति का उदय होता है। तब समाधि अवस्था का उदय होता है और भक्त के समीप भगवान् के अतिरिक्त कोई अवस्था नहीं रह जाती। इसी का नाम चैतन्य-समाधि है। भगवान् के लिए प्राण में सच्ची व्याकुलता न होने पर, यह समाधि नहीं उत्पन्न होती। इस अवस्था में बाहर की चिन्ता और आकर्षण नहीं रहता। इस कारण भगवान् भक्त के भीतर ठीक-ठीक कार्य कर पाते हैं, जिसके फलस्वरूप भक्त चिन्ताहीन अवस्था में उपनीत होने में समर्थ होता है। चैतन्य-समाधि पूर्ण आनन्द की अवस्था है। किन्तु यह भी अपूर्ण है। इसी कारण यह टूट जाती है। इसके बाद जिस अवस्था का उदय होता है उसमें भीतर और बाहर पूर्ण चैतन्य के साथ 'मैं'—'मैं' भाव विद्यमान रहता है। 'मैं'—'तुम' भाव चिरदिन के लिए कट जाते हैं। इस अवस्था का पूर्ण विकास देहावस्था में सम्भव नहीं है। वस्तुतः, यही पूर्ण ब्रह्मावस्था का पूर्वाभास है।

सत्यपथ में चलना हो तो कितने ही विशेष गुणों का रहना आव-श्यक है। इन सब गुणों के बीच श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, वैराग्य और

प्रेम प्रधान है। श्रद्धा सबका मूल स्वरूप है, इसलिए अध्यात्म-मार्ग में प्रविष्ट होना हो तो सर्वप्रथम इसका ही साहाय्य ग्रहण करना होता है। श्रद्धा के बाद दूसरा प्रधान गुण विश्वास है। विश्वास के बिना भगवान् का सन्धान पाना असम्भव है। जीव का हृदय असार वासना से आच्छन्न होने से, भगवान् के पृथ्वी पर प्रकट होते हुए भी जगत् उन्हें क्षणभर के लिए भी विश्वास नहीं कर पाता है। विश्वास करना अत्यन्त कठिन है। एक ओर भगवान् की कृपा और दूसरी ओर अपनी प्राक्तन सुकृति, इन दोनों का योग न होने पर, विश्वास नहीं उत्पन्न होता। हृदय में सच्चा विश्वास अंकुरित होने पर एकमात्र भगवान् के अतिरिक्त सब कुछ असार प्रतीत होता है। विश्वास के साथ भक्ति का योग होने पर हृदय की और भी उच्च अवस्था प्रकाशित होती है। मन में विश्वास न होने पर, भक्ति के द्वारा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। परमानन्द स्वरूप भगवान् को सार वस्तु समझ रखना चाहिए। उनके अभाव में जीवन हो असह्य होना चाहिए। साथ-साथ उनके ऊपर पूर्ण-निर्भर भाव रहना चाहिए—इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का उदय होने पर, बाहर का कोई आकर्षण मन को चञ्चल नहीं कर पाता। इस प्रकार क्रमशः बाहर का आकर्षण समाप्त कर पाने पर, अर्थात् भक्ति के उदय के बाद, हृदय में वैराग्य का उदय होता है। इस अवस्था में बाहर का आकर्षण तो रहता ही नहीं—भगवान् ने ही एकमात्र अपने लगते हैं। अन्य कोई विषय अच्छा नहीं लगता। तब भक्त भगवान् के नाना रूपों का दर्शन करते हैं। इस प्रकार भक्ति और वैराग्य के साथ, प्रेम प्रबल होने पर, सब समय ही चित्त में भगवान् के लिए तरङ्ग क्रीड़ा करती रहती है, एक अव्यक्त व्यथा सब समय चित्त में जगी रहती हैं। अहर्निश चक्षु से प्रेमाश्रु झरता रहता है। इसके फलस्वरूप जीव की पूर्वसञ्चित दुष्कृति, अपराध और प्रतिबन्धक सब कट जाते हैं। हृदय गम्भीर ज्वाला से ज्वलित रहता है, नयन से जल की धारा बहती रहती है और छाती फटी जाती है। सत्य का प्रकृत सन्धान पाने के लिए यही आवश्यक है। क्योंकि निर्मल न होने पर, सत्य का तीव्र तेज सहन नहीं होता। मलिनता

समाप्त करने के लिए एकमात्र उपाय प्रेम का विकास है। मलिनता दूर होने पर हृदय श्मशान रूप में परिणत होता है।

यह हुई एक दिशा की बात। अन्य प्रकार से देखने पर, सत्यलाभ करते हुए मन को अपने आयत्त करना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अवशीभूत मन ही शत्रु है। पूर्वोक्त प्रकार से प्रेम का उदय होने पर तथा भाव गम्भीर होने पर, मन शान्त होता है। तब यह स्थिर मन ही सत्यलाभ के पथ पर परम मित्र का काम करता है। प्राण की व्याकुलता और मन का साहाय्य, ये ही सत्यपथ के सहायक हैं। इन दोनों का मूल भगवान् की कृपा है। मन शान्त न होने तक उसके साथ निरन्तर संघर्ष में लगना पड़ता है। इसी का नाम साधन-समर है। इस समय प्रतिद्वन्द्वी भाव से असंख्य रिपु आक्रमण करते हैं। ये सभी स्वेच्छाचारी मन के चर हैं। भगवान् को स्मरण करना, प्रेम के साथ सहजभाव से उन्हें प्राण समर्पण करना और भाव के साथ अश्रु-विसर्जन करना—ये ही साधन-समर में जयलाभ करने के उपाय हैं। मन जब तक वशीभूत नहीं होता, तब तक अतर्कित भाव से अनन्त चिन्ताओं का उदय होता है और भजन में विघ्न उत्पन्न होता है। भगवान् तब महाकाल रूप धारण करके मन का नाश करते हैं।

पहले जो जाग्रत् मन्त्र की बात कही है, वही सत्यपथ पर चलने में सहायता करता है। किन्तु भाव आवश्यक है, 'भगवान् ही परम प्रिय हैं उन्हें छोड़ देने पर सब कुछ शून्यमय है', इस भाव को आश्रय करने पर जाग्रत्-मन्त्र भीतर कार्य करने में समर्थ होता है, नहीं तो नहीं।

भगवान् का स्वरूप तीव्र ज्योतिर्मय, अनन्त तेजोमय, परम सत्य और पवित्र है। यह सनातन अथ च नित्य नूतन है। यह निराकार परम स्वरूप देह-सम्बन्ध रहने तक सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। निराकार ब्रह्म प्रेमिक के निकट साकार होकर आत्म-परिचय देते हैं। यह परिचय सत्य होने पर भी, चरम सत्य नहीं है। देह विद्यमान रहने तक इसे ही पूर्ण परिचय समझना होगा। किन्तु वास्तविक पक्ष में यह भी प्रशान्त सत्ता का तरङ्गमात्र है। गो-लोक, वैकुण्ठादि नित्यधाम सब इस तरङ्ग के बीच ही प्रकाशित होते हैं।

८

कालीनाथ बाबा

यह प्रायः तोस वर्ष पहले की बात है। मैं उस समय चार नम्बर भुवेश्वर में किराये के मकान में रहता था। एक दिन प्रातःकाल मेरे गुरुभाई श्री गिरिधारीलालजी मुझसे मिलने आये। ये परलोक-गत सुप्रसिद्ध राजा मुंशी माधोलालजी के दौहित्र थे, और कुँवर नन्दलालजी के छोटे भाई थे। इनसे मेरा बहुत दिन से परिचय था। ये बहुत धर्मप्राण व्यक्ति थे और सत्सङ्ग में रुचि-सम्पन्न थे। किसी समय कोई अच्छे साधु काशी आते तो ये श्रद्धा से उनसे मिलते थे और उनका सत्कार करते थे। मेरे पास आकर उन्होंने कहा—"मुझे खबर मिली है कि थोड़े दिनों में एक अच्छे साधु काशी में आनेवाले हैं। साधुजी की गर्भधारिणी वृद्धा माता काशी में रहती हैं। उनकी परिचर्या के लिए साधुजी का छोटा भाई, जिसका नाम नरेश है, काशी में रहता है। उसके साथ मेरा परिचय है, इसीलिए महात्माजी के आने की सूचना मुझे उससे मिल गयी है। महात्माजी की असाधारण शक्ति की बातें बहुत लोग जानते हें। उनके आने पर मुझे पता चल जाएगा। उस समय आपको खबर कर दूँगा। आप भी जाकर उनका दर्शन कर सकेंगे।" यह सुनकर मैंने अपनी सम्मति प्रकट की और उनसे कहा कि महात्माजी के आने पर मुझे समाचार मिल जाना चाहिए। इस बातचीत के बाद कुछ समय बीत गया। एक दिन अकस्मात् गिरिधारीजी ने आकर खबर दी कि साधुजी आ गये हैं, कुछ दिन ठहरेंगे और एक दिन उनका दर्शन करने जाने का प्रबन्ध करना पड़ेगा। मैंने कहा—"ठीक है, देर नहीं होनी चाहिए, कल सुबह ही हमलोग जा सकते हैं और इसी प्रकार प्रबन्ध हो सके तो अच्छा होगा। परन्तु एक बात है, आप महात्माजी के भाई से कहिएगा कि हमलोग जब उनसे मिलेंगे तब कोई बहिरङ्ग आदमी

वहाँ नहीं रहना चाहिए। हमलोग उनका एकान्त स्थान में दर्शन चाहते हैं। काम्य-फल-प्रार्थी बहिरङ्ग जनता का आना-जाना रहने पर अन्तरङ्ग-चर्चा नहीं हो सकती। किसी साधु के आने पर ऐसे लोगों का ही समागम अधिक होता है।" गिरिधारी-दादा ने महात्माजी के भाई से कहकर वैसा ही प्रबन्ध किया। दूसरे दिन १४ जुलाई, १९३५ को प्रातःकाल वे मेरे पास आये और हम दोनों रामघाट के लिए रवाना हुए। वहाँ गंगा तट पर एक मकान में महात्माजी का अवस्थान था। हमलोगों ने जाकर देखा कि हमारी इच्छा के अनुसार ही प्रबन्ध किया गया है। महात्माजी नीचे की मंजिल के एक प्रकोष्ठ में विराज रहे थे। हम लोगों के बैठने का प्रबन्ध भी वहीं किया गया था। किसी प्रकार का बाह्य आडम्बर नहीं था। एक चटाई पर वे बैठे थे। उसी के निकट दूसरी एक चटाई हमारे लिए बिछी थी। उनके आसन पर एक बड़ा तकिया रखा था। निकट में कुछ कागज पेन्सिल भी थे।

हम लोगों के भीतर प्रवेश करते ही महात्माजी ने हमारा आदर-सहित आवाहन किया और बैठने का अनुरोध किया। हम लोग उनके निकट ही बैठ गये। उनका दर्शन हुआ—वृद्धमूर्त्ति, नग्नकाय, गैरिकवर्ण-कौपीनधारी, प्रसन्नवदन, मुण्डितमस्तक, दाढ़ी-मूँछ कुछ नहीं, स्थूल कलेवर। दोनों आँखों में प्रखर बुद्धि का तेज झलक रहा था। उन्होंने हमसे पूछा—"आप लोग क्या देखना चाहते हैं ?" मैंने उत्तर दिया—"हम लोग और कुछ नहीं देखना चाहते, हम तो आये हैं आपके दर्शन के लिए।" ऐसा लगा कि यह सुनकर उनके चित्त को सन्तोष नहीं हुआ; मानो वे अपनी शक्ति का कुछ प्रदर्शन करना चाहते हों, कुछ ऐसा प्रतीत हुआ। इसके बाद महात्माजी निकट में रखी हुई कागज़ की फ़ाइल में से कुछ टुकड़े कागज़ लेकर उनमें से प्रत्येक पर कुछ-न-कुछ लिखने लगे। उसके बाद इन सब टुकड़ों को एक के ऊपर दूसरा रखकर उन्होंने तकिये के नीचे दबा दिया। फिर तकिये का सहारा लेकर उन्होंने विशेषतः मेरी ओर देखकर पूछा, "आपने मैट्रिक किस साल में पास किया था ?" मैंने

कहा कि मैंने जब कलकत्ता विश्वविद्यालय से पास किया था तब परीक्षा का नाम एण्ट्रेन्स था, मैट्रिक नहीं। मैंने १९०८ में यह परीक्षा पास की थी। उन्होंने कहा, "ठीक है। उस समय आपकी पाठ्य-पुस्तक में परीक्षणीय विषयों में अंग्रेजी का गद्य-पद्य-साहित्य था या नहीं ?" मैंने कहा "हाँ, था।" उन्होंने कहा, "उस पद्य-संग्रह की किसी एक कविता के किसी अंश की एक पंक्ति आप स्मरण करके कह सकते हैं ?" मैं उस समय अपनी स्मृतिशक्ति को उद्बुद्ध करके सोचने लगा। कुछ कविताओं की बात स्मरण में आने लगी। उसके बाद एक कविता में से एक पंक्ति पर मेरा विशेष ध्यान गया जो Longfellow की Psalm of life के अन्तर्गत है—'Trust no future however pleasant' मैंने इस पंक्ति का उच्चारण करके उन्हें सुनाया। उच्चारण करने से पहले विभिन्न पद्यों में से विभिन्न पंक्तियों के विषय में स्मृति जगी हुई थी, परन्तु अन्त में उसी पंक्ति को स्थिर किया था। उस पंक्ति का उच्चारण मेरे मुख से सुनते ही उन्होंने तकिये के नीचे से पहला कागज का टुकड़ा निकाला और मुझे दिखाया। ठीक वही पंक्ति उसमें लिखी थी। मैं देखकर आश्चर्यान्वित हो गया। सोचने लगा—यह क्या व्यापार है, यह तो Thought-reading भी नहीं है, क्योंकि उस पंक्ति के विषय में कोई विचार उठा नहीं था और चर्चा से पहले ही उन्होंने इसे लिख रखा था। यह Thought transference भी नहीं हो सकता, इसे clairvoyance भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी जल्पना-कल्पना उठी ही थी कि महात्माजी समझ गये और बोले, "आप जो सोच रहे हैं, वह कुछ भी नहीं है। शेक्सपियर का कोइ नाटक पढ़ा है ?" "हाँ, इण्टर-बी०ए० में पढ़ा है ?" तब बाबाजी ने कहा, "अच्छा अपने पढ़े हुए किसी नाटक में से एक पंक्ति स्मरण करके कहिये तो ?" मैंने बहुत सोचकर Merchant of Venice में से एक पंक्ति उन्हें सुनायी—"The quality of mercy is not strained" यह सुनते ही उन्होंने 'यह लीजिये'—कहकर तकिये के नीचे से दूसरा कागज निकाला। मैंने देखा कि मेरी कही हुई पंक्ति ही उस पर लिखी है। इसके बाद गिरधारीलालजी ने पूछा—"बाबाजी, मेरा एक प्रश्न है, आप कहें तो कहूँ।" बाबाजी ने उत्तर

दिया—'थोड़ा ठहर जाइये।' यह कहकर तकिये के नीचे से परवर्त्ती कागज का टुकड़ा निकाला और वह कागज हम लोगों को दिखाया। उस पर लिखा था 'यह अपने भाई का मृत्यु-रहस्य जानने की इच्छा कर रहे हैं। यह वस्तुतः सत्य बात है।' सचमुच हो गिरधारीलालजी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दलालजी का मृत्यु-रहस्य जानने की चेष्टा कर रहे थे। कुँवर नन्दलालजी की मृत्यु, रहस्य में डूबी हुई थी। वे कुछ दिन पहले एक रात सिनेमा देखकर लौटकर अपने लहुराबीर स्थित बगीचे में अवस्थान कर रहे थे। उसी रात उस उद्यान भवन के नीचे उनका शव मिला। इस सम्बन्ध में नाना कल्पनाएँ की गयीं—हत्या की गयी हो, या अधिक शराब पिये रहने के कारण छत से गिर पड़े हों इत्यादि। सिविल-सर्जन ने शव को देखकर एक मत प्रकट किया था। बाबाजी ने कागज में लिखा था कि सिविलसर्जन ने जो कुछ अनुमान किया है वही सच है। गिरधारीलालजी ने कहा, "मैं प्रश्न जानना नहीं चाहता। आप ठीक-ठीक बता सकते हैं या नहीं कि किसने हत्या की ?" बाबाजी ने कहा, "मैं वह भी बता सकता हूँ, पर बताऊँगा नहीं, पुलिस का उपद्रव होगा। सिविलसर्जन ने जो तय किया था वही ठीक है। यदि ठीक-ठीक बात जानना चाहते हैं तो कभी निर्जन में मिलियेगा। यहाँ कोई चर्चा उस विषय में न करें।"

इसके बाद और भी बहुत-सी बातें हुईं। गिरधारी दादा से उन्होंने कहा—आपकी स्त्री के नाम का पहला अक्षर 'उ' है। हम लोग बहुत देर तक बाबाजी के पास रहे। देखा कि उनका इंग्लिश का ज्ञान बहुत अच्छा था। यह भी सुना कि किसी समय वे इञ्जीनियर थे। उसके बाद हम लोग चले आये।

इस प्रकार बाबा के साथ जो परिचय हुआ वह क्रमशः घनीभूत होने लगा। थोड़े दिन बाद एक दिन प्रायः आठ बजे देखा कि बाबाजी अकेले मेरे घर में आ उपस्थित हुए हैं। उस समय मैं कॉलेज जाने की तैयारी कर रहा था। थोड़े समय के लिए जाना स्थगित कर दिया और चपरासी द्वारा सूचना भेज दी कि कुछ देर में आऊँगा। घर में बाबा के बैठने का

प्रवन्ध चटाई पर ही तकिया रखकर किया गया। बाबाजी आकर यथा-स्थान बैठ गये। उनके लिए कागज-पेन्सिल भी रख दिया गया। इसी-समय मेरे एक मित्र शिवलाल झारखण्डे मुझसे मिलने आये। वे मेरे कॉलेज के लाइब्रेरियन थे। वे एम० ए० व एम० एस०-सी० दोनों थे। कलकत्ता प्रेसिडेन्सी कॉलेज के भूतपूर्व छात्र तथा सुभाषचन्द्र बोस के समकालीन थे। स्वयं योगाभ्यासी व साधुभक्त थे। उनके गुरु थे लखनऊवासी ठाकुर दोपनारायण सिंह। वावाजी को हमारे घर में देखकर वे भी वहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद बाबा ने मुझसे कहा, "कुछ गणित की पुस्तकें लाइये। बीजगणित, अङ्कगणित, हिन्दी, इंग्लिश, किसी भी समय की, किसी भी ग्रन्थकार की, किसी भी देश से मुद्रित हो, पुरानी हो या नूतन कोई बात नहीं।" इतनी गणित की पुस्तकें संग्रह करना उस समय मेरे लिए कठिन था। सनातन धर्म हाईस्कूल पास था। वहाँ का एक छात्र मेरे घर रहता था वहाँ के हेडमास्टर श्री केदारनाथ पण्डित मेरे शिष्य थे। मैंने उस विद्यार्थी के हाथ केदारदाथजी के नाम चिट्ठी स्कूल भेजी। सौभाग्य का विषय है, थोड़ी देर बाद ही वह विद्यार्थी स्कूल के पुस्तकालय से दस पुस्तकें ले आया। इन पुस्तकों में से कोई हिन्दी की थी, कोई अंग्रेजी की, सब विभिन्न स्थानों से विभिन्न समयों पर प्रकाशित हुई थीं और सबके रचयिता भी अलग-अलग थे। सब स्तूपाकार में बाबा के सामने रखी गयीं। इधर बाबा ने क्या किया कि उन कागजों को काटकर कुछ पर्चियाँ बनायी, उन पर कुछ लिखा और क्रम से सजाकर उन्हें तकिये के नीचे दबाकर रख दिया। उसके बाद हमसे कहा, "आप इन सब गणित पुस्तकों में से किसी में से भी किसी भी पृष्ठ पर से किसी भी संख्या का सवाल करिये।" हमने वैसा ही किया और गणित का विवरण उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा, "इस सवाल को हल करो।" हमने कहा कि इसमें तो समय लगेगा। उन्होंने कहा, 'उत्तरमाला देखो।' साथ ही प्रथम पर्ची हमें दे दी। आश्चर्य को बात थी कि जो उत्तर उन्होंने लिख रखा था वही पुस्तक में था। इसी प्रकार एक के बाद एक विभिन्न पुस्तकों के विभिन्न स्थानों से सवाल लेकर परीक्षा की

गयी। उत्तरमाला के अनुसार सभी पर्चियाँ ठीक निकलीं। हम दोनों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। महात्माजी ने कहा—"आप बता सकते हैं, इसका क्या रहस्य है?" मैंने कहा, "यह Pre-cognition है अथवा foreknowledge पता नहीं। रहस्य-भेद करना कठिन है।" मैंने महात्मा जी से पूछा, "आप किस प्रक्रिया के अनुसार यह सब करते हैं?" उत्तर में वे बोले, "मैं दो उपाय जानता हूँ। १. equation (समीकरण), २. direct vision (प्रत्यक्ष दर्शन)। जागतिक शक्तियों के समीकरण का अर्थ है—cosmic forces का समन्वय। यह meteorological forecast (मौसम सम्बन्धी पूर्वसूचना) के समान है। इसमें कदाचित् भूल हो सकती है, पर कम ही। समीकरण के हिसाब में भूल न होने पर भी किसी शक्ति के संग्रह में त्रुटि होने पर भूल हो सकती है, अत्यन्त सावधान रहने से भूल नहीं होती। दूसरे उपाय को divine vision भी समझ सकते हैं। यही साक्षात् जानने का उपाय है, इसमें भ्रम नहीं होता। मैं प्रायः इसी से बोलता हूँ।" बहुत देर तक fore-knowledge के विषय में उनसे बातचीत हुई। मैंने कहा, "इससे समझ में आता है कि जगत् में हमारी सभी घटनाएँ पूर्वनिर्दिष्ट हैं। भवितव्य विधाता का विधान ही होता है। अवश्य प्रतिविधान का भी प्रयत्न हो सकता है पर वह भी Pre-ordained है, उसका फलाफल भी ऐसा ही है।" यह सुनकर उन्होंने कहा,—"तो हम लोग इतना कूदते क्यों हैं? हमारे कर्तृत्वाभिमान का मूल कहाँ है? सूत्रधार पुतली को जैसे नचाएगा उसे वैसे ही नाचना होगा, वह स्वतन्त्र नहीं है। स्वातन्त्र्य-लाभ ही मुक्ति है, सो बहुत कठिन है।" मैंने कहा, "विधि का विधान यद्यपि अलङ्घ्य है, तब भी टूट सकता है, क्योंकि जो विश्वातीत स्वरूपा स्वातन्त्र्यमयी विश्व-मातृका हैं, उनकी कृपा-दृष्टि होने पर विधाता का विधान भी टूट सकता है। इसीलिए भक्तकवि ने मातृका-स्तोत्र में कहा है—" वैधी दृष्टिः पतति यदि दृष्टिस्तव शिवे।"

इसके बाद बाबाजी का कभी-कभी दर्शन होता रहा। एक समय काशी में रहते हुए वे कार्बङ्कल से पीड़ित हुए। रामकृष्ण-सेवाश्रम में कुछ दिन उन्हें रखकर चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया। मैं अपने घर से भोजन बनवाकर अस्पताल में पहुँचवा देता था। साधारणतः माखन (जितेन्द्र)

या कोई छात्र भोजन पहुँचा देता था। मैं भी कभी-कभी जाकर देखभाल करता था। यह १९३५ के अन्त या ३६ के आरम्भ का समय था। एक दिन पुत्र माखन भोजन लेकर उनके पास उपस्थित हुआ। माखन को वे मेरे पुत्र के रूप में जानते थे। उन्होंने उससे बैठने के लिए कहा। किन्तु माखन ने कहा, "अभी नहीं बैठूँगा, मेरा मन ठीक नहीं है, क्या मैं आप से एक प्रश्न पूछ सकता ?" बाबा ने कहा, "अवश्य पूछ सकते हो। पर तुम्हें पूछना नहीं पड़ेगा। मैं उत्तर दे रहा हूं। उत्तर यह है कि कोई भय नहीं है। इस समय गुरुदेव रक्षा कर रहे हैं।" तात्पर्य यह है कि माखन की एक सन्तान प्रथम प्रसव के समय नष्ट हो गयी थी। अब पुनः सन्तान-सम्भावना थी। आशंका थी कि कहीं फिर से गड़बड़ न हो जाय। बाबा ने समझकर कह दिया कि भय नहीं है क्योंकि गुरुदेव ने रक्षा का भार लिया है। वास्तव में यही बात थी, वही सन्तान वर्तमान शशिशेखर है। फिर माखन ने कहा, और एक प्रश्न पूछना चाहता हूं' सुनते ही बाबा ने कहा, "पूछने की जरूरत नहीं, अभी नौकरी की सम्भावना नहीं, देर है।"

अस्पताल में उनके रहने के समय और एक बात हुई, जितने दिन वे वहाँ रहे, एक युवक परिचारक उनकी सेवा-शुश्रूषा भलीभाँति किया करता था। युवक ने बाबा की असाधारण शक्ति का बहुत परिचय पाया था। युवक उन्हें सेवा द्वारा सन्तुष्ट करके उनसे कुछ शक्ति पाना चाहता था। एक दिन वह युवक तेल-मालिश कर रहा था। बाबा ने पूछा, "तुम तो खूब पढ़े-लिखे हो। नौकरी न करके सेवाश्रम में क्यों आये ? क्या तुम पिता से आज्ञा लेकर आये हो ? पिता का नाम क्या है ? देश कहाँ हैं ? घर में कौन-कौन है इत्यादि।" प्रश्न सुनकर युवक क्षुण्ण व रुष्ट हो गया। बोला, "आप रोगी हैं मैं सेवक। आपकी सेवा में त्रुटि न हो यह मेरा कर्त्तव्य है। आप यह सब बाहरी बातें क्यों पूछ रहे हैं ? मैं समझता हूँ कि आपकी सेवा मेरा प्राप्य है. और घर के प्रश्न पूछने की आपको जरूरत नहीं।" सेवक ने कुछ गरम होकर यह सब बातें की। उसकी बातें सुनकर बाबा ने कहा, "भाई तुम नाराज क्यों होते हो ? तुमने तो

मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया नहीं। अच्छा सुनो, हम ही उत्तर दे रहे हैं।" यह कहकर उन्होंने युवक के घर की सब बातें सुना डालीं। कुछ गोपनीय विषय भी, जो युवक के सिवा कोई न जानता था, बता दिये। युवक सुनकर आश्चर्यचकित हो गया। बोला, "इतनी ब्योरेवार बातें आप कैसे जान गये ? इन्हें तो कोई नहीं जानता। आप सभी कुछ देख लेते हैं।" बाबा ने कहा, "हाँ मुझे सभी दीखता है। तुम न कहो तो भी मेरी दृष्टि के सामने सब कुछ है। फिर भी लौकिक व्यवहार के अनुसार मैंने प्रश्न किया था, पर तुमने उत्तर नहीं दिया उल्टे कटुवाक्य सुनाया। फिर भी तुम चाहते थे हमसे कुछ शक्तियों का ग्रहण करके उन्हें अपना बना लेना। मुझ पर श्रद्धा कितनी है यह जानने के लिए ही मैंने परीक्षा की थी। तुम शक्ति-ग्रहण के अयोग्य हो।" वह युवक मौन रह गया।

और एक दिन की बात है। मेरे गुरुभाई सतीशदा (श्री सतीशचन्द्र डे) बाबा से मिलने आये। मैं तब वहाँ नहीं था। कथाप्रसङ्ग में बाबा ने उनसे कहा, "आप वकील हैं जरूर, पर कोर्ट में क्यों नहीं जाते ? आप तो क्वींसकालेज के छात्र थे न ! कानून की परीक्षा में आपने हिन्दू लॉ में कुछ कम नम्बर पाये थे" (वास्तव में वे उस पर्चे में रियायती नम्बरों से पास हुए थे, पर याद नहीं था, अभी याद आया) !

बाबा से सुना था कि बहुत दिन पहले वे गुरुदेव (स्वामी विशुद्धानन्दजी) के पास भगवत्तत्त्व का उपदेश लेने 'गुणकरा' गये थे। शान्तिनिकेतन के पास वह गाँव है। गुरुदेव तब चोंगदार के मकान में रहते थे। उस समय ये बाबा शिक्षार्थी थे, बाबा नहीं। भगवत्तत्त्व के विषय में उपदेश-प्रार्थी होकर गये थे। गुरुदेव ने उनसे कहा था—"पहले खेचरी विद्या के प्रभाव से, माध्यकर्षण के प्रभावक्षेत्र से मुक्त या पार हो जाओ, उसके बाद आना, तब आगे बतायेंगे। देहात्मबोध रहने तक ऊर्ध्व स्तर के व्यापार में अधिकार नहीं होता।" (ये बातें मैंने श्रीगुरुदेव के मुख से सुनी थीं।)

पं० गोपीनाथ कविराज की अन्य कृतियाँ

● मनीषी की लोकयात्रा : पं० गोपीनाथ कविराज का जीवन-वृत्त प्रस्तुतकर्ता डा० भगवतीप्रसाद सिंह	३०.००
● भारतीय संस्कृति और साधना	
प्रथम खंड	२०.००
द्वितीय खंड	१०.००
● तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि	७.५०
● तांत्रिक साहित्य	३०.००
● साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग : खंड १	१५.००
● कृष्ण प्रसंग	१५ ००
● Aspects of Indian Thought	25.00
● प्रभुदेव वचनामृत (संपादन)	१८.००